जैन भारती

वर्ष 49 • अंक 7 • जुलाई, 2001

With best compliments from :

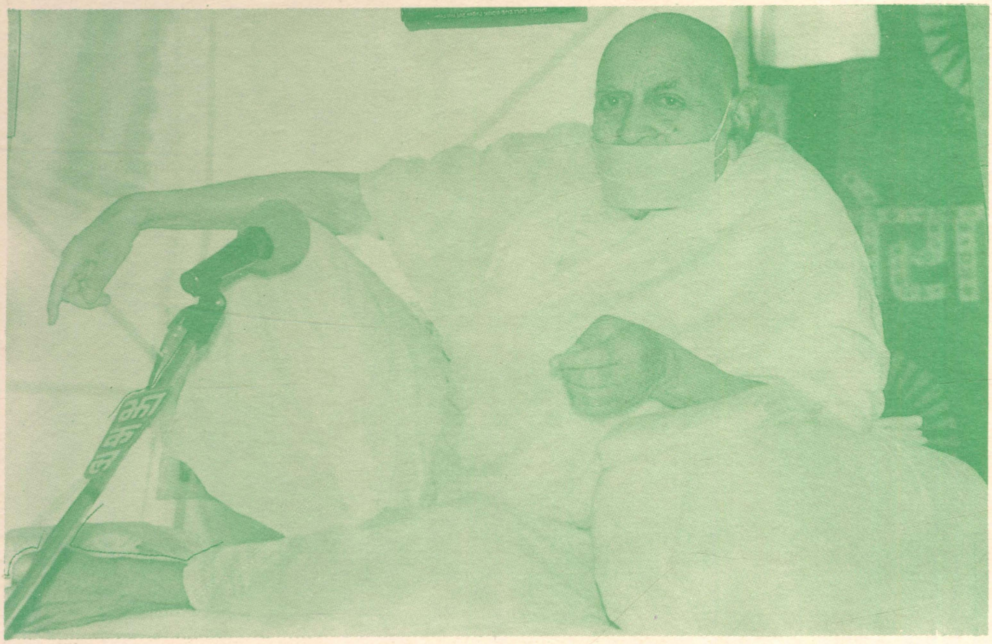

AMIT®
A CHOPRA PRODUCT
Mfg. Art Silk Sarees & Dress Material

AMIT - SYNTHETICS

Shop : W-3207, Surat Textile Market
Office : 402, Anand Market, Ring Road
SURAT 395002
Phone : 622076, 625680, 622027 Fax : 0261-636651

Pemchand Chopra Charitable Trust
W-3207, Surat Textile Market
Ring Road, SURAT

•

Jhamkudevi Chopra Charitable Trust
11-A,B, Sai Ashish Society
Udhaua Magdalla Road, SURAT

शुभू पटवा
मानद संपादक
●
बच्छराज दूगड़
मानद सह-संपादक

जैन भारती

जुलाई, 2001 वर्ष 49 अंक 7 रु. 15.00

प्रसंग

5
शुभू पटवा
आस्था : उलझा सवाल

विमर्श

9
आचार्यश्री महाप्रज्ञ
अहिंसा-हिंसा : विविध पहलू

15
सच्चिदानन्द सिन्हा
हिंसा की जड़ें

20
साध्वी गवेषणा
क्रियावाद बनाम कर्मवाद

अनुभूति

27
आचार्यश्री तुलसी
साधना के आधार बिंदु

32
दयालचन्द्र सोनी
अहिंसा में है पंच-महाव्रत

36
मुनि मदनकुमार
साधना का मूल्य

39
कहानी
शरत्चन्द्र चट्टोपाध्याय
गुरुजी

42
कविता
नवीन सागर की कविताएं

शीलन

45
समणी विपुलप्रज्ञा
आतम रा कारज सारस्यां

48
साध्वी शांतिप्रभा (लाडनूं)
समया धम्म मुदाहरे मुणी

50
सरोज छाजेड़
बाल मन की गहराइयां

53
बालकथा
राजकुमारी
रामू की पवित्रता

55
जैन भारती पाठक पहेली

●
आवरण
अडिग
एवं
दीपचन्द

सदस्यता शुल्क
वार्षिक 125/- रुपये
त्रैवार्षिक 350/- रुपये
दसवर्षीय 1000/- रुपये

प्रधान कार्यालय
जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा
3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट
कोलकाता 700001

प्रकाशकीय कार्यालय
जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा
तेरापंथ भवन, महावीर चौक
गंगाशहर, बीकानेर 334401

'धार्मिक होने का अर्थ है अपने अस्तित्व के अर्थ का प्रश्न भावावेग से पूछना और उत्तर के लिए प्रस्तुत रहना—चाहे वे उत्तर चोट ही क्यों न पहुंचाएं। धर्म की ऐसी परिकल्पना उसे सार्वभौमिक रूप में मानवीय बना देती है, किंतु साधारणतया जिसे धर्म कहा जाता है, उससे वह निश्चित रूप से भिन्न है। उसमें देवताओं के अथवा एक ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास करने को धर्म नहीं बताया गया है, और न यह कहा गया है कि इन सत्ताओं के साथ विचार, भक्ति और आज्ञाकारिता द्वारा संबंध जोड़ने के लिए नाना प्रकार की क्रियाओं और संस्थाओं का नाम धर्म है। इस बात से कोई इनकार नहीं कर सकता कि इतिहास में जितने भी धर्म प्रकट हुए हैं, वे इसी अर्थ में धार्मिक हैं। फिर भी अपने आंतरिकतम रूप में धर्म इस संकीर्ण अर्थ वाले धर्म से कहीं अधिक कुछ है। वह स्वयं अपने अस्तित्व और सार्वभौमिक अस्तित्व से लगाव की अवस्था का नाम है।

ऐसे बहुत-से लोग हैं जो चरम रूप से ऐसा ही लगाव रखते हैं, किंतु संकुचित अर्थ वाले धर्म से, और इसलिए प्रत्येक ऐतिहासिक धर्म से, बहुत दूर अनुभव करते हैं। ऐसा अक्सर होता है कि ऐसे लोग अपने जीवन के अर्थ के प्रश्न को असीम गंभीरता का प्रश्न मानते हैं और इसी कारण प्रत्येक ऐतिहासिक धर्म को अस्वीकार करते हैं। उन्हें लगता है कि सारे वस्तुवाचक धर्म उनके गहरे लगाव को समुचित रूप में अभिव्यक्त करने में असफल हैं। ऐसे लोग धर्मों को अस्वीकार करके भी धार्मिक हैं। इस अनुभव के कारण ही हम किसी धर्म-विशेष के प्रतीकों और संस्थाओं से चरम संबंध की अभिव्यक्ति से भिन्न गहराई के आयाम में जीवित रहने को धर्म का अर्थ मानने को बाध्य होते हैं। अब हम यदि अपने युग की धर्म संबंधी परिस्थितियों का ठोस विश्लेषण करें तो स्पष्ट हो जाता है कि धर्म के बुनियादी अर्थ को हमें अपनी कुंजी बनाना चाहिए, किसी धर्म-विशेष को नहीं—ईसाई धर्म को भी नहीं। इस कुंजी से हमारे युग में मनुष्य के धर्म-संकट के बारे में क्या पता चलता है? यदि हम असीम लगाव की अवस्था को धर्म की परिभाषा मानें तो कहना पड़ेगा कि हमारे युग में मनुष्य ने ऐसा लगाव गंवा दिया है।'

—पॉल टिलिच

जन्मोत्सव : अभिवंदना
आषाढ़ शुक्ला त्रयोदशी
सं. 1783

मनुष्य की प्रवृत्ति के निमित्त तीन हैं—शक्ति, प्रभाव और सहजवृत्ति। सत्ता से शक्ति, संबंध से प्रभाव और हृदय-परिवर्तन से सहजवृत्ति का उदय होता है। शक्ति राज्य संस्था का आधार है। प्रभाव समाज संस्था या भौतिक जीवन का आधार है। सहजवृत्ति हृदय की पवित्रता का आधार है। शक्ति से प्रेरित हो मनुष्य को कार्य करना पड़ता है। प्रभाव से प्रेरित होकर मनुष्य सोचता है कि यह कार्य मुझे करना चाहिए। सहजवृत्ति से प्रेरित होकर मनुष्य सोचता है कि यह कार्य करना मेरा धर्म है। सब लोग अहिंसक या मोक्षार्थी हो जाएं, यह कल्पना ठीक है, पर सबको अहिंसक या मोक्षार्थी बना देंगे यह शक्ति का सूत्र है। हमें यह मानने में कोई आपत्ति नहीं होगी कि शक्ति के धागे में सबको एक साथ बांधने की क्षमता है। पर उससे व्यक्ति के स्वतंत्र मनोभाव का विकास नहीं होता। वह व्यक्ति-व्यक्ति की चारित्रिक अयोग्यता का निदर्शन है। आपसी संबंधों से प्रभावित होकर जो अहिंसक बनता है, वह अहिंसा की उपासना नहीं करता। वह संबंधों को बनाए रखने की प्रक्रिया है। प्रभाव मनुष्यों को बांधता है, पर वह मानसिक अनुभूति की स्थूल रेखा है, इसलिए उसमें स्थायित्व नहीं होता।

'भिक्षु विचार दर्शन' से

नई वस्तु को देख उलझें नहीं। गहराई से सोचें। उलझनें पैदा होती हैं, कुछ पैदा की जाती हैं। विवेकशील व्यक्ति अपने को उसमें उलझाए नहीं। शासन में भूचाल आए, अनगिनत भूचाल आए, आएंगे। शासन इन्हें सहन करेगा, इनसे घबराने की आवश्यकता नहीं है। आप अपने को टटोल कर रखें, मजबूत रखें। भूचाल चिरस्थाई नहीं होते। उनसे घबराकर जो अपनी स्थिति को खो देते हैं, वे भूल करते हैं।

हमें दुनिया को खुश करने के लिए नहीं चलना है। दुनिया राजी रहे या नाराज रहे, हमें इससे रंचमात्र मतलब नहीं। हमें तो अपने को मंजते हुए 'तित्राणं-तारयाणं' अर्थात् स्वयं तरना तथा औरों को तरने की प्रेरणा देना—इस आदर्श को आगे रखते हुए चलना है।

संघीय जीवन में और वैयक्तिक जीवन में अंतर है। व्यक्ति के लिए अनेक मार्ग हैं। वह अरण्यवासी बन सकता है, पादपोपगमन संथारा कर सकता है। पर संघ में लाखों व्यक्तियों के जीवन को देखा जाता है, हमें समष्टि रूप में सोचना है। अतएव प्रत्येक व्यक्ति के लिए संघीय अनुशासन में चलना आवश्यक होता है।

—आचार्यश्री तुलसी

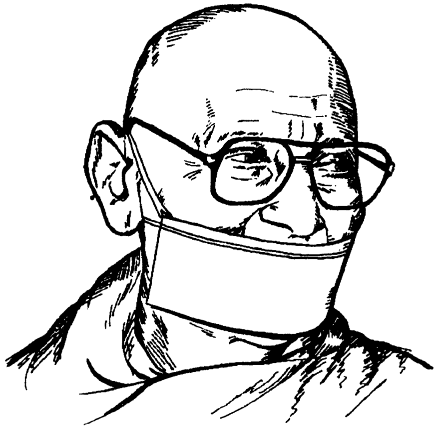

शरीर-धारण के लिए कर्म की अनिवार्यता है। शुद्ध चेतना के जागरण के लिए निष्कर्म की अनिवार्यता है। कर्म और निष्कर्म का संतुलन ही धर्म का मर्म है। जहां कोरा कर्म होता है, वहां स्पर्धा और संघर्ष के स्फुलिंग उछलते हैं। कोरा निष्कर्म होता है, वहां संघ नहीं होता, परंपरा नहीं होती। परंपरा, संघ और साधना—तीनों की समन्विति के लिए कर्म और निष्कर्म—दोनों की समन्विति अपेक्षित है। आचार्य भिक्षु ने स्पर्धा और संघर्ष के वातावरण को देख निष्कर्म को प्रधानता दी। इसीलिए उनके अध्यात्मवादी या निवृत्तिपरक विचारों को समझने में कुछ कठिनाइयां हुई थीं। आचार्य भिक्षु ने आचार्य कुंदकुंद की आध्यात्मिक परंपरा को नए संदर्भ में उज्जीवित किया।

स्थूल व्यवहार के स्तर पर चलने वाले लोग उसकी गहराई तक नहीं पहुंच सके। उन्हें वह धारा व्यवहार का उन्मूलन करने वाली लगी। इसलिए उसका विरोध भी हुआ। किंतु सचाई यह है कि आचार्य भिक्षु ने तेरापंथ के माध्यम से अध्यात्म की तर्कशुद्ध पद्धति प्रस्तुत की।

आचार्य भिक्षु ने निष्कर्म को केवल सैद्धांतिक रूप में ही प्रतिष्ठित नहीं किया, उसे व्यवस्था के स्तर पर भी प्रतिष्ठा दी। कर्म की बहुलता कामना की बहुलता से जुड़ी रहती है। निष्काम और निष्कर्म अलग-अलग नहीं होते। निष्कर्म होगा वहां निष्काम होगा और निष्काम होगा वहां निष्कर्म होगा। पद के लिए उम्मीदवार नहीं बनूंगा—यह व्यवस्था-सूत्र निष्कर्म और निष्काम—दोनों की फलश्रुति है। पद कार्य के लिए है, सेवा के लिए है, प्रतिष्ठा के लिए 'नहीं' है—इस सिद्धांत के आधार पर तेरापंथ के चतुर्थ आचार्यश्री जयाचार्य ने पद के समर्पण की व्यवस्था की।

—आचार्यश्री महाप्रज्ञ

प्रसंग

आस्था : उलझा सवाल

यह तो कहा ही जा सकता है कि आस्था या श्रद्धा मिट्टी का कोई घरोंदा नहीं होता कि भुर-भुराकर आसानी से ध्वस्त हो जाए। यह भी कहा ही जाता है कि विवेक और सहिष्णुता की समतामयी आंख यदि न हो तो आस्था-श्रद्धा अंधी ही रहती है और अंधी आस्था-श्रद्धा से जो सामाजिक-सांस्कृतिक विकृतियां पनपती हैं वे मानवीयता को ही लील ले जाती हैं। अतीत को देखने से ऐसी कुछ घटनाएं हमारे सामने चित्र-लिखित हो जाती हैं और जैसा सांस्कृतिक क्षरण ऐसी घटनाओं से होता रहा है उसकी भरपाई भी असंभव नहीं तो कठिन अवश्य रही है।

धर्म-संप्रदाय से लेकर राजनीति के जीवन में झांक कर देखा जाए तो पाएंगे कि ऐसी घटनाएं भले विरल ही हों, पर मिलेंगी अवश्य जहां आस्था-श्रद्धा को विवेक की खुली आंख से तौला गया और मत-भिन्नता को सहिष्णुता से स्वीकारा गया। ठीक इसके बरअक्स ऐसी घटनाएं भी मिलेंगी जहां मतिहीनता के कारण संघर्ष भी चले और लोग-बाग अन्याय व शोषण के शिकार भी हुए। यह एक कटु स्वीकारोक्ति है कि वैचारिक स्तर पर मत-भिन्नता का समादर सदैव सतही तौर पर ही नजर आता है, अन्यथा अक्सर यही देखने को मिलता है कि विचार की भिन्नता व्यवहार के स्तर पर नग्न विद्रूप ही उपस्थित करती रही है। भले वह क्षेत्र धर्म-संप्रदाय का हो अथवा राजनीति या समाज का हो। इस तरह आस्था और श्रद्धा एक ऐसा उलझा हुआ सवाल है जहां एक ओर अपनी आस्था के प्रति प्रबल निष्ठा और वैसा ही आग्रह देखने को मिलता है तो दूसरी ओर उससे उभरे वे विद्रूप जो मानवीयता, सहिष्णुता, विवेकशीलता और सत्यप्रियता को ही विनष्ट कर रहे होते हैं। तब प्रश्न उठता है कि कौन-सा वह जरिया हो सकता है जहां कोई अपनी आस्था पर अडिग रहते हुए उस दिशा से भी मुक्त रह सके जो मानवीयता को कलुषित करती हो, लील लेती हो।

हमारे सामने एक उदाहरण है 'तेरापंथ' का, बल्कि कहना यह चाहिए कि इसके प्रवर्तक आचार्य भीखणजी का, क्योंकि 'तेरापंथ' का उद्‌भव तो एक अनायास घटना है। संत भीखणजी का ऐसा उद्देश्य कभी नहीं रहा कि वे किसी 'संघ' या 'संगठन' की स्थापना करेंगे। कोई 242 वर्ष पूर्व संत भीखण जब अपने गुरु से पृथक हुए तो वे उन सिद्धांतों के प्रति अपनी दृढ़ आस्था के चलते पृथक हुए जिनके लिए उन्होंने घर-परिवार छोड़कर संयम और साधना का पथ अंगीकार किया और जैन मत के पांच

महाव्रतों में अपनी आस्था-श्रद्धा प्रक्षेपित की। इन्हीं पांच-महाव्रतों के प्रति उनकी अटूट आस्था ने उन्हें अपने गुरु से विलग होने को विवश किया। वे विलग हुए तो उनका यह उद्देश्य कहां था कि किसी नए पंथ-संप्रदाय का प्रवर्तन करेंगे। अपनी साधना और आत्मा का कल्याण ही उनका ध्येय था। जिन सिद्धांतों में उनकी आस्था थी, उन्हीं पर अविचल रहते हुए ही साधना हो सकती है—यह उनका विश्वास था और उसी विश्वास ने उनका मार्ग प्रशस्त किया। यह मार्ग प्रभु का मार्ग उन्होंने माना और एक घटना से अभिप्रेरित हो उन्होंने विनयपूर्वक वंदना करते हुए कह दिया—'हे प्रभो! यह तेरा पथ।' 242 वर्ष पूर्व कहा गया यह वाक्य कालांतर में 'तेरा पथ' से 'तेरापंथ' हो गया जो आज एक विशाल धर्म संगठन है। इस घटना और उस काल में संत भीखण (कालांतर में आचार्य भीखणजी) ने जो कुछ कहा–लिखा उसके अध्ययन से यह समझा जा सकता है कि अपने सिद्धांतों-आदर्शों के लिए आस्थाशील और आग्रही रहते हुए कोई कैसे सहिष्णु, सत्यप्रिय और विवेकशील भी रह सकता है।

दरअसल यह प्रसंग आज इसलिए संवाद के लिए समीचीन है कि जीवन के हर क्षेत्र में सिद्धांतों-आदर्शों के प्रति अपनी आस्था प्रकट करते हुए जो असहिष्णुता देखने को मिलती है उसके सामने 242 वर्ष पहले की एक घटना परिष्कार के लिए प्रेरणा के रूप में सहायक हो सकती है।

पिछले कुछेक वर्षों में जाति, धर्म और अलग-अलग मतवाद ने समाज को जिस प्रकार तोड़ा और रौंदा है, वह सब कथित आस्थाओं और श्रद्धाओं के ही नाम पर तो हुआ है। अपनी-अपनी आस्था-श्रद्धा के प्रति निष्ठाशील रहते हुए जो समाज विविधता में एकता का ताना-बाना बनाए रख सका वह स्वाधीनता के बाद पिछले कुछ वर्षों से बुरी तरह क्षत होने लगा है। इस क्षरण को रोक पाना वर्तमान परिस्थितियों में कठिन प्रतीत हो रहा है, क्योंकि जीवन के हर स्तर पर राजनीति का वर्चस्व दुर्भाग्य से बढ़ रहा है। यह भी दुर्भाग्य ही है कि जो राजनीति में हैं उनका एक मात्र लक्ष्य सत्ता की राजनीति है। येन-केन प्रकारेण उसे हासिल करना ही उनका लक्ष्य है। चूंकि सत्ता की यह राजनीति हर वर्ग और विचार पर हावी हो रही है, इसलिए उसकी कलौंस से मुक्त रह पाना भी हर किसी के लिए कठिन हो रहा है। आस्था-श्रद्धा जैसे शब्द भी इसी कलौंस से ग्रस्त हैं और एक प्रकार से अपना अर्थ खो रहे हैं।

हम देख सकते हैं कि धर्म-संप्रदाय अथवा जातीय संगठनों का अनुचित इस्तेमाल इस समय सत्ता का खेल खेलने वाले किस प्रकार कर रहे हैं। सत्ता-राजनीति के खिलाड़ी बड़ी कुटिलता के साथ आस्था-श्रद्धा का लेप चढ़ा कर सामान्यजन की कोमल-निश्छल भावनाओं को उभारने में कोई कसर उठा नहीं रखते। धार्मिक आस्था-श्रद्धा के नाम पर यह सब वे इसलिए कर गुजरते हैं कि धर्म के असली स्वरूप के क्षत-विक्षत होने की उन्हें कोई परवाह नहीं है। धर्म और धर्म-सिद्धांतों के प्रति उनकी आस्था कितनी है, यह तो तब पता चले जब किसी निरपेक्ष कसौटी पर उन्हें कोई देखे-परखे। ऐसे अवसर आने से पहले ही वे अपने खेल–खेल चुके होते हैं। बल्कि कहा जाना चाहिए कि धर्म-संप्रदायों के मंच भी उन्हें उपलब्ध हो जाते हैं और अपने 'खेल' की असलियत पर पर्दा डाले रखने के साथ अपने कृत्य का औचित्य भी वे सहज ही सिद्ध कर लेने में सफल हो जाते हैं। धर्म-संप्रदायों का मंच भले सहज 'भोलेपन' में ही उन्हें मिलता हो, पर उनका निहित उद्देश्य तो उससे पूरा हो ही जाता है।

धर्म-संप्रदायों का यही भोलापन प्रकारांतर से राजनीति में चोली-दामन का साथी बनता है और यही वजह है कि आज जो कुछ हो रहा है वह सब अपनी-अपनी आस्थाओं और श्रद्धाओं के नाम पर हो रहा है।

आस्था-श्रद्धा के पहलू पर हम इस दृष्टि से भी विचार करें कि 'आस्था-श्रद्धा' किसके प्रति? व्यक्ति के प्रति, कि विचार या सिद्धांत के प्रति? किसी सिद्धांत अथवा विचारधारा के आधार पर किसी की आस्था-श्रद्धा को देखा-परखा जाए अथवा किसी व्यक्ति को सामने रख कर उसे देखा-परखा जाए? आज दुर्भाग्य से विचार या सिद्धांत पर आस्थाशील रहने वाले जन या तो मूर्ख-अव्यावहारिक करार दिए जाते हैं, या उनके बारे में कहा जाता है कि वे समय के साथ नहीं चल सकते हैं। व्यक्ति के प्रति आस्था और श्रद्धा ही आज समय की पुकार रह गई है, पर उन्हीं के लिए जो किन्हीं निहित ध्येयों के लिए आस्था का मुलम्मा चढ़ाकर उसूलों के वास्ते शहीद हो जाने का विलाप करते हैं। वे लोग जो वास्तविक रूप में सिद्धांतों और आदर्शों के प्रति अविचल रहने का साहस रखते हैं वे तो संत भीखणजी ही होते हैं जो कहते हैं—

'मर पूरा देस्यां, आतम रा कारज सारस्यां'

— शुभू पटवा

विमर्श

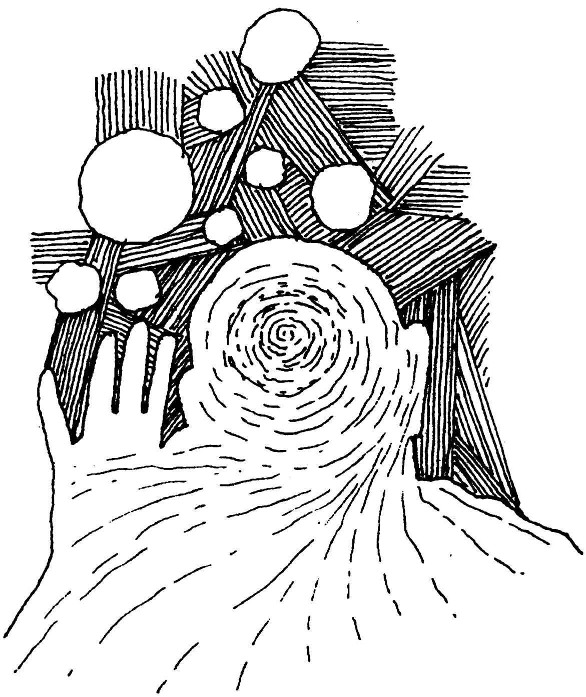

'कला हो या दर्शन, विज्ञान हो या विचार अथवा व्यवहार का कोई अन्य संदर्भ, सबमें अन्वेषक की अहंकार, वासना और राग-द्वेष से उपरति अपेक्षित होती है। इन संदर्भों में इस उपरति या कैवल्य में निश्चल प्रतिष्ठा के लिए उसी प्रकार अनवरत सतर्कता अपेक्षित होती है, जिस प्रकार नैतिक कर्म के संदर्भ में। इस सतर्कता के बिना न केवल ये अन्वेषण ही स्वयं में बहुत उत्कर्ष-लाभ नहीं करते बल्कि इन्हें उचित रूप से मूल्यान्वेषण भी नहीं कहा जा सकता। किंतु इस उपरति और सतर्कता का अत्यंत सीमित संदर्भ भी हो सकता है। उदाहरणतः परमाणु बम के आविष्कारक के लिए भी इसी उपरति और प्रयत्न की अपेक्षा थी। हमारे पुराणों में दानवों द्वारा तपस्या और इस तपस्या के द्वारा ईश्वर से वरदान-प्राप्ति की बहुत-सी कथाएं आती हैं। ये तपस्याएं इन से तुलनीय हैं। ऐसा व्यक्ति उत्कृष्ट वैज्ञानिक या कुशल तर्क-पंडित (दार्शनिक) या प्रतिभावान कलाकार होने के साथ स्वार्थी, क्षुद्र तथा गर्हित भी हो सकता है। ऐसे व्यक्ति के ये अन्वेषण और सफलताएं दानव की तपस्या से प्राप्त सिद्धि के समान ही आत्म-प्रापक नहीं हो सकतीं, क्योंकि उसके लिए इन तपस्याओं में आत्मा अन्वेष्य ही नहीं होता। इस प्रकार कहा जा सकता है कि सब अन्वेषणों में आत्मा अन्वेष्य हो सकता है और उसके अन्वेष्य-माध्यम होने पर ही अन्य अन्वेषण अपनी सार्थकता पाते हैं और मूल्य पद के अधिकारी होते हैं, अन्यथा वे मूल्य-विघातक ही होते हैं। श्री अरविंद दर्शन और धर्म के बीच संबंध बताते हुए कहते हैं : 'दर्शन वस्तुओं के आधार-सत्य का बौद्धिक अन्वेषण है और धर्म इस सत्य को मानव की आत्मा में सक्रिय बनाना।' अब इस सत्य के बौद्धिक साक्षात्कार के लिए भी एक सीमा तक इंद्रिय-निग्रह और राग से मुक्ति की, तपस्या की अपेक्षा होती है, किंतु इस सत्य को आत्मा में सक्रिय बनाने के प्रयत्न के बिना यह एक दानवी अन्वेषण मात्र भी हो सकता है अथवा इन दोनों से तटस्थ, मात्र बौद्धिक अन्वेषण रह कर, निरर्थक प्रयत्न भी हो सकता है। अथवा यह तटस्थ सत्यान्वेषण आत्मा में असत्य की सक्रियता का सहभागी भी हो सकता है, जैसा कि बहुत-से दार्शनिकों, वैज्ञानिकों और कलाकारों के साथ हम देखते हैं।'

—यशदेव शल्य

हम लोग कार्य को मिटाने की बात सोचते हैं, कारण पर ध्यान नहीं देते। हिंसा एक कार्य है, वह कारण नहीं है। उसका कारण है—सामाजिक और आर्थिक विषमता। उसका कारण है—संपन्न वर्ग का विपन्न वर्ग के प्रति क्रूर व्यवहार, उसका कारण है—उच्च वर्ग का विलासिता एवं सुख-सुविधापूर्ण जीवन, उसका कारण है—निम्नवर्ग की उपेक्षा। इन कारणों की समाप्ति हो तो हिंसा अपने आप कम हो जाएगी। इस सचाई की ओर सरकारें, समाजसेवी संस्थाएं और धर्म के लोग ध्यान दें तो समस्या का समाधान हो सकता है।

अहिंसा-हिंसा : विविध पहलू

⊙ आचार्यश्री महाप्रज्ञ

मनुष्य सब प्राणियों में श्रेष्ठ है। इस अवधारणा ने हिंसा की प्रवृत्ति को उच्छृंखल बना दिया है—'न मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किंचित्'। इसका आशय यही है कि मनुष्य को जैसा शरीर और जिस तरह का मानसिक-बौद्धिक विकास मिला है वैसा किसी अन्य प्राणी में नहीं है, पर इसका यह फलितार्थ कभी नहीं हो सकता कि वह श्रेष्ठ है—अतः उसके द्वारा जो कुछ किया जाए—वह क्षम्य है, उचित है। आज के आधुनिक वैज्ञानिक युग का अभ्युपगम यही बना हुआ है कि मनुष्य को बचाने के लिए सब कुछ किया जा सकता है। सब कुछ करने में औचित्य का कोई अतिक्रमण भी हो तो उसकी कोई चिंता नहीं है।

क्या इस जगत में केवल मनुष्य का ही अस्तित्व है? क्या अकेला मनुष्य जी सकता है? विकसित होने का अर्थ कभी भी अविकसित का शोषण और उत्पीड़न करना नहीं माना जा सकता है। उसका तो अर्थ है—इच्छा और अपेक्षाओं का संयमन।

हिंसा के दो स्तर

भगवान महावीर ने कहा—अविकसित प्राणी विवेक नहीं कर सकता, पर मनुष्य विकसित प्राणी है, इसलिए उसमें विवेक करने की क्षमता है। वह हिंसा को जीवन की नियति मानता हुआ भी उससे बच सकता है। महावीर ने हिंसा की समस्या को दो स्तरों पर देखा। हिंसा का एक स्तर है—अर्थ हिंसा और दूसरा स्तर है—अनर्थ हिंसा—'अट्ठा दंडे अणट्ठा दंडे।' हिंसा अनुपादेय है, उसे छोड़ो। उसे छोड़कर जी नहीं सकते, इस चिंतन से मन आंदोलित हो उठा। जिज्ञासा की गई—भंते! हिंसा को छोड़कर मैं जी नहीं सकता?

आचार्य बोले—'तुम्हारे मन में जीने की आकांक्षा है। क्या हिंसा की भी आकांक्षा है?'

'नहीं, बिल्कुल नहीं।'

'तो इतना-सा करो। जीने के लिए जो जरूरी नहीं, वैसी हिंसा को छोड़ दो।'

आंख कब खुलेगी

हिंसा को छोड़ने का प्रारंभ अनावश्यक हिंसा से मुक्त होकर करो। जो-जो आवश्यक नहीं है उसे छोड़ते चलो। इस 'नेति नेति' के पश्चात् जो बचेगा, वह जीवन का यथार्थ होगा, एक तरह से अर्थ-हिंसा होगी। जो समस्या है, वह अर्थ-हिंसा की नहीं है, सारी की सारी उलझन अनर्थ-हिंसा से बढ़ रही है। प्रश्न है, क्या आज का मनुष्य अर्थ-हिंसा और अनर्थ-हिंसा का विवेक कर रहा है? क्या आज के समाजशास्त्री और अर्थशास्त्री अर्थ-हिंसा की कोई तालिका बनाने के प्रयत्न में लगे हुए हैं? क्या किसी धर्मगुरु ने ऐसी कोई तालिका बनाई है? संतुलित भोजन की तालिका उपलब्ध है क्योंकि उसे शारीरिक पोषण के लिए आवश्यक समझा गया है। मनस्पोषण को शायद उतना आवश्यक नहीं समझा गया है। इसलिए अर्थ-हिंसा और अनर्थ-हिंसा के बीच स्पष्ट भेद-रेखा नहीं खींची जा सकी है। अधिक सुविधा और अधिक उपभोग-पदार्थों को बाजार में उपलब्ध कराना व्यावसायिक दृष्टि से संगत माना जा सकता है और मानवीय चेतना को यदि व्यवसाय की चौखट में जड़ित किया जाएगा तो उसका भी व्यवसायीकरण हुए बिना नहीं रहेगा। यही कारण है कि आज के किशोरों और युवकों को इंद्रियों के आकर्षण को कम करने की बात समझाना सरल नहीं रहा है। वे आकर्षण के साथ इतने बह चुके हैं कि प्रवाह को मोड़ने का सूत्र खोजना भी कठिन हो रहा है। तब लगता है कि हिंसा की बढ़ोतरी ही उसकी भयंकरता का अहसास कराएगी और तब आंख खुलेगी और तब ही विवश मनुष्य फिर से सचाई की ओर लौटने की बात सोचेगा।

हिंसा की परिस्थिति का यह एक पहलू है। हम हिंसा-अहिंसा के अन्य पहलुओं पर भी विचार करें।

मानसिक तनाव का हेतु

अहिंसा निर्मल चेतना की अनुभूति है। राग, द्वेष और मोह—ये मल हैं। इनसे चेतना मलिन होती रहती है। राग की उत्तेजना, द्वेष की उत्तेजना और मोह की उत्तेजना का अर्थ है चेतना की मलिनता। राग की उपशांति, द्वेष की उपशांति और मोह की उपशांति का अर्थ है चेतना की निर्मलता। मनुष्य में राग, द्वेष और मोह की प्रकृति सहज है। पदार्थ का उद्दीपन मिलता है, वे उभर आते हैं। पदार्थवादी और सुविधावादी दृष्टिकोण चेतना की निर्मलता के लिए, मानसिक शांति के लिए खतरा है। एक लालसा भीतर-ही-भीतर पनप रही है कि प्रिय वस्तु का संयोग हो, उसका वियोग न हो। अप्रिय वस्तु का वियोग हो, उसका संयोग न हो। महावीर की भाषा में यह आर्त्तध्यान है। यही मानसिक तनाव का मुख्य हेतु बनता है। इस प्रकार की मनोवृत्ति वाले व्यक्ति का व्यवहार पांच अंगों में विभक्त होता है—

1. व्यवसाय आदि की असफलता होने पर हीन भाव से ग्रस्त हो जाना।
2. दूसरे की संपदा पर विस्मय से अभिभूत हो जाना।
3. संपदा प्राप्त होने पर उसमें आसक्त हो जाना।
4. दूसरे की संपदा की इच्छा करना।
5. अधिकतम संपदा के अर्जन में दत्त-चित्त रहना।

नशे की आदत की फलश्रुति

उपरोक्त तत्त्व ही स्पर्धा के लक्षण हैं और यही मानसिक तनाव के हेतु बनते हैं। जैसे-जैसे धन-संपदा बढ़ती है वैसे-वैसे शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्श के प्रति आसक्ति भी बढ़ती जाती है। एक ओर इनकी वृद्धि और दूसरी ओर मानसिक तनावों की वृद्धि। जैसे-जैसे तनाव बढ़ता जाता है वैसे-वैसे मादक वस्तुओं की ओर झुकाव बढ़ता है, पर नशे की आदत केवल अमीर लोगों में ही नहीं होती, गरीब लोगों में भी होती है। उसका कारण अमीरी और गरीबी नहीं है, किंतु तनाव और दूसरे प्रकार की विकृतियां-विषमताएं हैं। गरीब आदमी में अभाव-जनित तनाव होता है। अमीर आदमी में संपदा की अधिकता से उत्पन्न तनाव होता है। तनाव से घिरा हुआ आदमी शांति और सुख का जीवन जी नहीं सकता। इसलिए वह मादक वस्तुओं की शरण में जाता है। सचाई यह है कि आदमी बाहरी घटनाओं, घटना के संघर्ष से उत्पन्न चिंताओं से मुक्त रहकर जीना चाहता है और मादक वस्तुओं के सेवन से कुछ समय के लिए सब-कुछ विस्मृत हो जाता है। विस्मृति के इन क्षणों में उसे मुक्ति का अहसास होता है और एक सुखद अनुभूति होती है—यही अनुभूति उसके लिए मादक द्रव्यों के सेवन का कारण बन जाती है। इसका परिणाम सुखद नहीं है। तंबाकू कितना खतरनाक है, यह वैज्ञानिकों की घोषणाओं से प्रकट हो रहा है। शराब केवल शरीर के लिए ही नहीं, वृत्तियों को बदलने के लिए भी बहुत उत्तरदायी है। मद्यपान न करने वाला उतना क्रूर नहीं हो सकता जितना एक मद्यप हो सकता है। अपराधी मनोवृत्ति का निर्माण करने में मद्य का बहुत बड़ा योग है।

इच्छा और क्रिया में असामंजस्य

खान-पान और आचार-विचार का बहुत गहरा संबंध है। यह सचाई बहुत प्राचीनकाल से ज्ञात है। अहिंसा के विकास की पहली शर्त है—आहार-शुद्धि और मादक वस्तुओं का वर्जन। आज का समझदार आदमी हिंसा की घटनाओं से बहुत चिंतित है। वह चाहता है कि समाज में सुख-शांति रहे, मार-काट, लूट-खसोट, उपद्रव और हत्याओं का सिलसिला समाप्त हो। स्वस्थ समाज के लिए यह एक स्वस्थ परिकल्पना है, पर कार्य-कारण का सिद्धांत एक वास्तविकता है—यह जानना भी जरूरी है। मनुष्य हिंसा नहीं चाहता, किंतु हिंसा के कारणों में लिप्त रहता है। वह अहिंसा चाहता है, किंतु अहिंसा के उपायों को जीवन-शैली का अंग बनाना नहीं चाहता। कारण की समग्रता में कार्य को न चाहने का अर्थ क्या होगा? कारण की असमग्रता में कार्य को चाहने का अर्थ क्या होगा? समस्या यह है कि मनुष्य की इच्छा और क्रिया में सामंजस्य नहीं है। एक अजीब पहेली बना हुआ है यह असामंजस्य।

विसंगति का उपचार

मूल समस्या तनाव है और मादक वस्तु का सेवन उसके उपचार के रूप में मान्यता प्राप्त कर चुका है। हिंसा की तीव्रता इसी का एक परिणाम है। हम हिंसा की तीव्रता को नहीं चाहते। आज का विद्यार्थी और युवक नशे की आदत में जाए—यह भी नहीं चाहते। तनाव भी नहीं चाहते। किंतु दिनचर्या, आचार-विचार और व्यवहार—पूरी जीवन-प्रणाली तनाव को बढ़ावा देने वाली बनी हुई है। इस चाह का क्या अर्थ है और क्या परिणाम है, इससे हम अनजान नहीं हैं। सब कुछ जानते हुए भी आदमी सचाई के साथ आंख-मिचौनी खेल रहा है। क्या जीवन-प्रणाली को बदला नहीं जा सकता? अतिव्यस्तता और उससे उत्पन्न तनाव को कम नहीं किया जा सकता? क्या तनाव विसर्जन के लिए कोई नया विकल्प नहीं खोजा जा सकता? ध्यान एक बहुत अच्छा विकल्प है तनावमुक्ति का और बहुत अच्छा उपाय है पदार्थ की अंधी दौड़ तथा स्पर्धाजनित उतावलेपन से बचने का। महावीर की भाषा में अहिंसा के विकास का एक सशक्त साधन

है—अध्यात्म और धर्म-ध्यान। जीवन में उसकी संगति अनेक विसंगतियों का समीचीन उपचार है।

यदि हम अहिंसा को विषमता और विसंगतियों के समीचीन उपचार का सशक्त साधन स्वीकार कर लें तो हमें इसके स्वरूप को सूक्ष्मता से पहचानना चाहिए।

अहिंसा जैन धर्म का मुख्य सिद्धांत है, यह एक अनुश्रुति है। इसे अवांछनीय भी नहीं कहा जा सकता। अहिंसा परम धर्म है, इसे भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता, किंतु महावीर का मूल सिद्धांत समता है और अहिंसा उसका एक अंग है। हमारी दो परंपराएं बहुत प्राचीन हैं—श्रमण परंपरा और ब्राह्मण परंपरा। भगवान महावीर श्रमण परंपरा के तीर्थंकर थे। श्रमण परंपरा में सम शब्द को सर्वाधिक मूल्य दिया गया। प्राकृत का 'सम' शब्द संस्कृत में तीन रूपों में व्याख्यायित हुआ है—

सम—समता

शम—शांति

श्रम—तपस्या, स्वावलंबन और आत्म-निर्भरता।

भगवान महावीर का मुख्य सिद्धांत यह त्रिपदात्मक 'सम' है। कालक्रम से यह घटित हुआ कि समता पृष्ठभूमि में चली गई और अहिंसा उभरकर सामने आ गई, पर क्या उपरोक्त त्रिपदी के बिना अहिंसा की कल्पना की जा सकती है?

हिंसा का बीज : क्रिया का समुच्चय

प्राण का अतिपात जीवन की समाप्ति है। हिंसा की धारणा इसी से जुड़ी हुई है। यह स्वाभाविक भी है। फल पर जितना ध्यान केंद्रित होता है, उतना बीज पर केंद्रित नहीं होता। हिंसा का बीज है—क्रिया का समुच्चय। उसे अनेक रूपों में देखा जा सकता है। महावीर के दर्शन में उसका वर्गीकरण इस प्रकार है—

1. मृषावाद, 2. अदत्तादान, 3. मैथुन, 4. परिग्रह, 5. क्रोध, 6. मान, 7. माया, 8. लोभ, 9. राग, 10. द्वेष, 11. कल, 12. अभ्याख्यान, 13. पैशुन्य, 14. परपरिवाद, 15. रति-अरति, 16. माया-मृषा और 17. मिथ्यादर्शन।

मानसिक विषमता

बीज की सत्ता, उर्वर भूमि, जल का सिंचन—सब कुछ मिले और बीज अंकुरित न हो—यह वैसी ही चाह है जैसे कि वायुमंडल में मीथेन, ओजोन, नाइट्रोऑक्साइड तथा कार्बन ऑक्साइड की मात्रा बढ़े और पृथ्वी का तापक्रम न बढ़े।

मनुष्य का दृष्टिकोण आराम से प्रतिबद्ध है। शरीर को जितना आराम दिया जा सके, जितनी सुविधा दी जा सके, उसी में सार्थकता की अनुभूति होती है। वैज्ञानिक स्पर्धा भी बुद्धिगम्य नहीं हो रही। नए-नए आविष्कार और नए-नए पदार्थों का निर्माण, उनकी बाजार में भीड़, उपभोक्ता द्वारा उनका उपयोग—एक चक्र बना हुआ है। कुछ वर्षों तक यह चलता रहता है, फिर अवांछनीय परिणाम की घोषणा होती है। उपभोक्ता इतना अभ्यस्त हो जाता है कि अनिष्ट परिणामों को जानते हुए भी उन्हें छोड़ नहीं सकता भले ही पर्यावरण का असंतुलन होता रहे—यह जानते हुए भी वैज्ञानिक अपना हाथ पीछे नहीं खींच पाते। यह मानसिक विषमता है। इससे हिंसा को संजीवन मिलता है। मानसिक विषमता का एक दूसरा रूप है—परिस्थिति के साथ सामंजस्य स्थापित न कर पाना। मनचाही वस्तु मिलने पर खुश होना और न मिलने पर नाखुश होना, यह मन की विषम स्थिति है। सुख-दुख, जीवन-मृत्यु, निंदा-प्रशंसा—ये सब द्वंद्वात्मक स्थितियां हैं। मन की विषमता को एक ही भाषा में समझा जा सकता है। यह है समता।

अहिंसा का मुख्य आधार—समता

समता का एक आधार है—सब जीवों के प्रति समता की अनुभूति। सब जीव—शरीर, जाति, वर्ण आदि नानात्व से विभक्त बने हुए हैं। विभक्त में अविभक्त को खोजना अहिंसा का मुख्य आधार है। समतावादी दृष्टि का विकास हुए बिना यह खोज संभव नहीं। महावीर भेद और अभेद—दोनों को एक साथ स्वीकार करते थे। केवल भेद और केवल अभेद—दोनों व्यवहार और तर्क से उलझे हुए हैं। भेद और अभेद का समन्वय एक समाधान है। भेद में अभेद खोजने पर ही समता का सिद्धांत प्राणवान बन सकता है।

विषमता : कारण और निवारण

मन की विषमता व्यावहारिक जगत में अनेक विषमताओं को जन्म देती है। व्यवहार और सिद्धांत की दूरी अवीतराग मनुष्य की सहज प्रवृत्ति है। बहुत लोग उस दूरी को पाटने का प्रयत्न ही नहीं करते। कुछ लोग उस दिशा में प्रयत्न करते हैं, पर लक्ष्य बिंदु तक पहुंचने में बहुत लंबा समय लग जाता है। आर्थिक विषमता मानसिक विषमता की एक निष्पत्ति है। समतावादी चेतना का विकास हुए बिना इस समस्या का समाधान संभव नहीं है। सब जीवों की समता की दुहाई देने वाला अपने लिए अतिरिक्त सुविधा चाहता है और अतिरिक्त सुविधा के लिए अतिरिक्त संसाधन। इसी तरह जातिगत विषमता की पृष्ठभूमि में भी मानसिक विषमता पल रही है। व्यक्ति के मन में छिपा हुआ अहंकार अपनी उच्चता के आयाम खोजता है। दूसरों की निम्नता के बिना उच्चता अर्थवान नहीं होती। इसलिए वह जाति, रंग आदि-आदि के

माध्यम से मद का पोषण करता है। इसी से समाज में विषमता पनपती है।

महावीर द्वारा प्रतिपादित समता को व्यापक संदर्भ में देखा जाना चाहिए। अहिंसा की समझ के लिए यह बहुत आवश्यक है। व्यापक समझ के अभाव में एक मनुष्य चींटी को आटा डालने में तो जागरूक रहता है, मनुष्य का शोषण करने में नहीं सकुचाता। यह विरोधाभास समता की समझ के द्वारा ही निरस्त हो सकता है।

समता के इस स्वरूप को समझते ही हिंसा के कारणों की गहराई में उतरा जा सकता है। तब हमें विरोधाभासी स्थितियां नजर आएंगी। ये स्थितियां क्या हैं? समस्या हिंसा की है और समाज हिंसा नहीं चाहता, समस्या उग्रवाद की है और समाज को उग्रवाद पसंद नहीं। जो पसंद नहीं है, वह बढ़ रहा है। महावीर ने कहा—'जो सामने है, उसे तो देखो ही, साथ-साथ उसे भी देखो, जो सामने नहीं है।' फल सामने होता है, पर मूल प्रत्यक्ष नहीं हो पाता। हिंसा और उग्रवाद का मूल है क्रूरता और निर्ममता। समाज का शक्तिशाली वर्ग आज दुर्बल वर्ग के प्रति अत्यधिक निर्मम है। यह निर्ममता ही हिंसा और उग्रवाद का मूल है।

समाज का एक छोटा वर्ग साधन-संपन्न है। उसका बड़ा भाग साधन-विहीन है। संपन्नता और विपन्नता का तारतम्य एक सीमा तक क्षम्य भी हो जाता है। किंतु आज तो वह असीम बन रहा है। दुर्बल वर्ग के सामने रोटी-रोजी की समस्या जटिल बनी हुई है। भरपेट रोटी न मिले, उस स्थिति में क्या हिंसा और उग्रवाद को रोका जा सकता है? क्या पुलिस के डंडे में भूख की ज्वाला को मिटाने की क्षमता है? अर्थ और काम—ये दोनों जटिल समस्याएं हैं। इन दोनों में अर्थ की समस्या अधिक जटिल है। अर्थ का ममत्व व्यक्ति को शेष सबके प्रति निर्मम बना देता है।

युगीन प्रश्न

अहिंसा, दया और करुणा की चेतना को जगाने के अनेक प्रयत्न किए गए। वे सफल नहीं हुए। यदि कहीं सफल हुए तो बहुत कम मात्रा में। धर्म के सामने आज के युग का यह एक ज्वलंत प्रश्न है। एक प्रबुद्ध व्यक्ति ने कहा—'धर्म पूंजीपतियों को सहारा देने के लिए है। अहिंसा और करुणा की बात उनके असामाजिक कार्यों पर आवरण डालने के लिए है। पूंजीपति लोग एक ओर गरीब का शोषण करते हैं, दूसरी ओर धर्म के नाम पर कुछ पैसे लगाकर प्रतिष्ठा पाते हैं। देखने में यह यथार्थ लगता है।'

पर, मैंने कहा—'धर्म का प्रारंभ बिंदु तो त्याग है। अर्थ के साथ उसका सीधा संबंध ही नहीं है। वह पूंजीपति को सहारा कैसे दे सकता है? वह शोषण को बढ़ावा कैसे दे सकता है? वह आदमी को निर्मम कैसे बना सकता है?' मेरा मंतव्य उस तक नहीं पहुंचा और उसका तर्क मुझ तक नहीं पहुंच पा रहा था। चूंकि चिंतन की आधार-भूमियां भिन्न थीं, इसलिए तर्क कारगर नहीं हुआ। प्रश्नकर्ता धर्म के अनुयाई को धार्मिक मानकर अपना चिंतन आगे बढ़ा रहा था। मैं धर्म के अनुयाई और धार्मिक को एक नहीं मान रहा था। इसलिए दोनों के तर्क भिन्न-भिन्न दिशाओं में जा रहे थे।

एक नहीं है अनुयाई और धार्मिक

हम इस सचाई को भूल गए हैं कि धर्म का अनुयाई और धार्मिक एक नहीं हो सकता। अनुयाई का अर्थ संप्रदाय का अनुयाई है। धार्मिक का अर्थ है—अहिंसा व्रत का आराधक। धर्म का अनुयाई शोषण भी कर सकता है, क्रूर व्यवहार भी कर सकता है, दूसरों के प्रति निर्मम भी हो सकता है। धार्मिक व्यक्ति ऐसा नहीं कर सकता। यह आरोप है कि धर्म के नाम पर भूमि रक्तरंजित हुई है, बड़े-बड़े युद्ध हुए हैं, हिंसा और हत्याएं हुई हैं। यह आरोप यथार्थ पर आधारित नहीं है। इसके साथ एक भ्रांत धारणा जुड़ी हुई है। मैं मान लूं कि धर्म के नाम पर क्रूरता और निर्ममता का प्रयोग हुआ है, भूमि रक्तरंजित हुई है। वही प्रश्न उभर कर आएगा, क्या धार्मिक आदमी ने भूमि को रक्तरंजित किया अथवा धर्म के अनुयाई ने? भीड़ अनुयाइयों की है, धार्मिकजनों की कहीं भीड़ नहीं है। हम धर्म के अनुयाई और धार्मिक का भेद भुलाकर मकड़ी की भांति अपने ही जाल में उलझ जाते हैं।

धार्मिक की परिभाषा

महावीर ने धर्म के अनुयाई और धार्मिक के बीच एक भेद-रेखा खींची। जो अहिंसा का व्रती है, वह धार्मिक है। जो व्रती नहीं है, वह धर्म का अनुयाई है। व्रती मनुष्य पशु पर अधिक भार नहीं लादता, अपने कर्मचारियों अथवा आश्रितों की जीविका का विच्छेद नहीं करता। वह आक्रामक नहीं होता। इस स्थिति में धर्म के भाल पर भूमि को रक्तरंजित करने का तिलक नहीं किया जा सकता।

हिंसा : कारण और निवारण

हिंसा बहुत बार विवशता में फटती है। यदि संपन्न लोग क्रूरता से मुक्त हों तो हिंसा का बीज अंकुरित नहीं हो सकता। जमींदार भूमिहीनों के प्रति करुणाशील नहीं है। मेधावी युवक रोजगार के अवसर से वंचित है। न्यायालय से न्याय की आशा क्षीण हो जाती है। राजनीतिज्ञ, पुलिस और अपराधियों का गठबंधन यथार्थ पर पर्दा डाल देता है। हिंसा के बीज-अंकुरण के लिए ये स्थितियां उर्वरा बन जाती हैं। जब-जब हिंसा फूटती है, उग्रवाद या आतंकवाद के सफाए की

बात चल पड़ती है। दूसरी ओर अहिंसा में विश्वास रखने वाले उग्रवादी या आतंकवादी के हृदय-परिवर्तन की बात सोचने लग जाते हैं। ये दोनों ही चिंतन सफल नहीं होते। न दंडात्मक नीति सफल होती है और न हृदय-परिवर्तन की बात आगे बढ़ती है।

हिंसा कार्य है, कारण नहीं

हम लोग कार्य को मिटाने की बात सोचते हैं, कारण पर ध्यान नहीं देते। हिंसा एक कार्य है, वह कारण नहीं है। उसका कारण है—सामाजिक और आर्थिक विषमता। उसका कारण है—संपन्न वर्ग का विपन्न वर्ग के प्रति क्रूर व्यवहार, उसका कारण है—उच्च वर्ग का विलासिता एवं सुख-सुविधापूर्ण जीवन, उसका कारण है—निम्नवर्ग की उपेक्षा। इन कारणों की समाप्ति हो तो हिंसा अपने आप कम हो जाएगी। इस सचाई की ओर सरकारें, समाजसेवी संस्थाएं और धर्म के लोग ध्यान दें तो समस्या का समाधान हो सकता है। केवल कानून और व्यवस्था की सीमा में सोचना, अर्धसैनिक बलों की टुकड़ियों को नियुक्त करना, पुलिस को अधिक सक्षम बनाना, अत्याधुनिक हथियारों का उपयोग करना—ये सब हिंसा की समस्या से निपटने के लिए पर्याप्त नहीं हैं। इस समस्या के समाधान का मुख्य कारक है—शक्तिशाली वर्ग के हृदय में करुणा का विकास।

अहिंसा की अंतरात्मा है करुणा

सम्यक् दर्शन की पांच कसौटियां हैं—

शम—मानसिक शांति, संवेग—मुमुक्षा, बंधन से मुक्त होने की इच्छा, निर्वेद—अनासक्ति, वैराग्य, अनुकंपा—करुणा, दया, आस्तिक्य—अस्तित्वबोध, सत्यनिष्ठा। इनमें चौथी कसौटी है—करुणा। दर्शन मिथ्या होता है, तब क्रूरता पलती रहती है। दर्शन के बदलते ही क्रूरता का स्थान करुणा ले लेती है। 'सब जीव समान हैं'—यह आत्मतुला या आत्मौपम्य की अनुभूति जितनी प्रखर होती है, करुणा उतनी ही प्रखर हो जाती है। यह अहिंसा की अंतरात्मा है। अहिंसा का आचरण करुणा पर अवलंबित है। महावीर को कोई व्यक्ति कष्ट देता, महावीर सोचते कि यह मुझे निमित्त बनाकर अपना अहित कर रहा है। यह सोचते-सोचते उनकी करुणा छलक पड़ती। वे अपना कष्ट भूल जाते।

यह है करुणा

श्रीमद् राजचन्द्र की घटना बहुत प्रसिद्ध है। उन्होंने किसी व्यक्ति से हीरों का सौदा किया। हीरों के भाव तेज हो गए। सामने वाले व्यक्ति को पचास हजार का घाटा हो रहा था। श्रीमद् राजचन्द्र ने उस व्यक्ति को बुलाकर कहा—'एग्रीमेंट का रुक्का दो।' काफी आग्रह के बाद उसने रुक्का श्रीमद् राजचन्द्र के हाथ में दे दिया। उन्होंने उस रुक्के को फाड़ते हुए कहा—'हमारा सौदा रद्द है। राजचन्द्र पानी पी सकता है, किसी का खून नहीं पी सकता।'

यह है करुणा, जो अहिंसा को अभिव्यक्ति देती है।

चूरू जिले में बीदासर नाम का कस्बा है। वहां एक श्रावक थे। नाम था उत्तमचंद बैगानी। जयाचार्य के प्रति परम आस्थावान। अकस्मात् उनका जवान लड़का मर गया। घटना की खोज की। किसी ज्योतिषी ने बताया—आपकी अंगुली में हीरे की अंगूठी है। यह हीरा आपके लिए शुभ नहीं है। आप इसे बेच दें।

उनके मित्र ने कहा—'यह हीरा मुझे दें, मैं किसी को बेच देता हूं।'

उत्तमचंदजी बोले—'इसे बेचना नहीं है। इसे कुएं में ही डाल आओ।'

मित्र ने फिर बेचने का आग्रह किया।

उन्होंने कहा—'मैं किसी दूसरे को पुत्र की मृत्यु से दुखी देखना नहीं चाहता।'

यह वह स्वर है जिसने अहिंसा का रेखांकन किया है, करुणा को जीवंत किया है।

कालसौकरिक राजगृह का प्रसिद्ध कसाई था। वह प्रतिदिन अनेक भैंसों को मारता था। उसकी मृत्यु के पश्चात् उसका ज्येष्ठ पुत्र सुलस उसका उत्तराधिकारी बना। उत्तराधिकार की रस्म के लिए एक भैंसे की हत्या करना जरूरी था। सुलसकुमार भगवान महावीर का श्रावक था। उसके मन में करुणा की धारा प्रवाहित थी। उसने अपने परिवारजनों से कहा—'भैंसा मारना मेरे लिए संभव नहीं है।' पर उसकी बात नहीं मानी गई। अत्यंत आग्रह के साथ उसके हाथ में तलवार थमा दी। सुलस ने तलवार चलाई पर, भैंसे के गले पर नहीं, अपने पैरों पर। पैरों से लहू की धारा बह चली। परिवार के लोगों ने कहा—'यह अपने पिता का योग्य उत्तराधिकारी नहीं बन पाएगा।' पर, करुणा ने सुलस को अहिंसा के पथ पर तो प्रतिष्ठित कर ही दिया।

अहिंसा के दो तटबंध : करुणा और संयम

भगवान महावीर की अहिंसा के दो तटबंध थे—संयम और करुणा। केवल करुणा कुछ प्रसंगों में अहिंसा से दूर चली जाती है, इसलिए करुणा के साथ संयम और संयम के साथ करुणा का योग आवश्यक है। महावीर ने इस योग की अनिवार्यता का प्रतिपादन किया। दुख-मोचन के साथ जुड़ी हुई करुणा महावीर को मान्य नहीं थी। दुख के स्रोत असंख्य

हैं। उन सारे स्रोतों की पूर्ति अहिंसा के स्थान पर हिंसा को प्रतिष्ठित कर देती है। इसी खतरे से बचने के लिए ही अहिंसा का स्वरूप निषेध की भाषा में निर्धारित किया गया। न+हिंसा=अहिंसा—यह जितना निर्दोष है, उतना निर्दोष विधायक स्वरूप नहीं बन सकता।

प्रवृत्ति : निवृत्ति

जैन धर्म निवृत्तिमूलक धर्म है। उसका प्रारंभ बिंदु निषेध है। न करो, न बोलो, न सोचो—यह सामान्य विधि है, उत्सर्ग मार्ग है। करो, बोलो, सोचो, यह अनिवार्यता है, विशेष विधि है, अपवाद मार्ग है।

'करो' में से करना निकलता है, वहां आसक्ति जन्म लेती है। 'न करो' में से न करना निकलता है वहां अनासक्ति जन्म लेती है, समिति होती है, कर्तव्य का विवेक होता है। न बोलने में से बोलना निकलेगा, वहां भाषा का विवेक होगा।

अहिंसा का मौलिक हेतु

करुणा के साथ विवेक आवश्यक है। यदि यह विवेक होता तो एक ओर मनुष्य के शोषण, दूसरी ओर पैसे से धर्म कमाने की वृत्ति नहीं पनपती। करुणा, क्रूरता का प्रतिपक्ष है। करुणापूर्ण व्यवहार एक स्थूल प्रवृत्ति है। उसका सूक्ष्म रूप है—क्रूरता का विलय। वह दृष्टिकोण परिवर्तन के द्वारा ही संभव है। अहिंसा का मौलिक हेतु सम्यक् दर्शन है। दर्शन जैसे ही सम्यक् बनता है, वैसे ही क्रूरता का आसन हिल जाता है, करुणा का पीठ प्रतिष्ठित हो जाता है। ❖

अहिंसा के प्रवर्तन को धर्म के और नैतिकता के क्षेत्र से आगे बढ़कर समाज और राज्य के क्षेत्र में आना होगा। अगर राज्य और समाज की भूमिका पर प्रबल का ही बोलबाला रहने वाला है, निर्बल समझे जाने वाले को भय में दब-सिकुड़कर ही रहना बदा है, तो यह हालत ज्यादा देर तक टिकने वाली नहीं है। विज्ञान ने, हमारे अपने मस्तिष्क और अनुभूति के विकास ने, हमको परस्पर इतना निकट ला दिया है कि शरीर, संख्या, सेना, शस्त्र के बल का आधार हमें ही झूठा मालूम होने लगा है। फिर उसका खतरा भी सामने आ गया है। उस आधार पर अब जीतने वाला कोई बचेगा ही नहीं, वह बल अंत में स्वयं जिताने वाले को हराएगा। वह बल आत्मघाती बल है। उसके सहारे जो उठेगा वह उसी के सहारे अंत में मरेगा भी। इस तरह हिम्मत बांधकर किसी समाज और राष्ट्र को उस बल के भरोसे के त्याग को संभव कर दिखलाना होगा। सामने वाला निःशस्त्र होना स्वीकार करे तो हम भी शस्त्र समाप्त करने को तैयार हैं—इस वृत्ति से तो हम चल ही रहे हैं। सब चाहते हैं कि हमें अस्त्र-शस्त्र का प्रयोग न करना पड़े—सभी चाहते हैं कि ऐसी स्थिति बने कि अणुशक्ति से बम न बनाए जाएं बल्कि वह विधायक और रचनात्मक कामों में आ सके। पर इस चाह के बावजूद बमों के अतिरिक्त और किसी काम के लिए अणुशक्ति खाली नहीं है और उससे भीषण से भीषणतम अस्त्र-शस्त्र बनाने की होड़-सी लगी है।

—जैनेन्द्र कुमार

मनुष्य की संस्कृति का विकास बहुत हद तक मनुष्य के मनोभावों को नियंत्रित करके ही संभव हुआ है। मनोभावों को नियंत्रित करने की संस्कृति की यह भूमिका इतनी महत्त्वपूर्ण है कि मनोभावों के विशेषज्ञ फ्रायड संस्कृति को प्रवृत्तियों का कठोर निषेधक मानते हैं और इसी निषेध को अनेक मनोरोगों का कारण मानते हैं। आज की स्थिति में जब अनेक शस्त्रास्त्रों से लैस हो संसार भीतरी और बाहरी संघर्षों से विनाश के कगार पर खड़ा है, हमें अस्तित्व रक्षा के लिए संस्कृति को कबूल कर कम से कम सामूहिक जीवन में हिंसा का निषेध करना ही पड़ेगा।

हिंसा की जड़ें

⊙ सच्चिदानन्द सिन्हा

हिंसा मानव की एक ऐसी प्रवृत्ति है जिसका निर्गुण में जितना ही निषेध होता है सगुण में उसका उतना ही जबरदस्त आकर्षण भी है। 'अहिंसा परम धर्म है'—यह लगभग सभी प्राचीन भारतीय धर्मों—बौद्ध, जैन या सनातनियों—द्वारा उद्घोषित होता है। ईसाई धर्म में तो एक गाल पर कोई चांटा मारे, तो दूसरा गाल भी मारने वाले के सामने कर देना ईसा मसीह के उपदेश का मूल मंत्र है। लेकिन व्यवहार में धर्म का यह रूप कहीं दिखाई नहीं देता। हिंदू धर्म और बौद्ध धर्म, दोनों को मानने वाले शासक भारत में हुए हैं। लेकिन अशोक के शासन को छोड़, जिसके सामने बौद्ध धर्म कबूल करने के बाद युद्ध की कोई चुनौती नहीं आई, बौद्ध धर्मावलंबी शासकों का शासन हिंसा पर उतना ही आधारित था जितना किसी दूसरे धर्मावलंबी शासक का। कुछ साधुओं को छोड़ दें, तो जैन भी उतने ही हिंसक हैं जितने दूसरे। भारत से बाहर श्रीलंका, बर्मा, थाईलैंड आदि में भी बौद्ध धर्म ने लोगों, विशेषकर शासकों के व्यवहार को अहिंसक नहीं बनाया। जहां तक ईसाई धर्म का सवाल है, ईसाइयों ने दुनिया को सर्वाधिक हिंसक समाज दिए हैं। हिटलर के जर्मनी से ले कर बिल क्लिंटन के अमेरिका तक सभी ईसाई देश रहे हैं। इनकी उपलब्धियों में दो-दो विश्वयुद्धों के नरसंहारों के अलावा साठ लाख यहूदियों की सामूहिक हत्या, अमेरिका के राष्ट्रपति ट्रूमन के आदेश पर जापान के नागासाकी और हिरोशिमा पर परमाणु बम गिरा कर कई लाख निरपराध औरतों, मर्दों, बूढ़ों और बच्चों की निर्मम हत्या और अमेरिकी राष्ट्रपति बिल क्लिंटन के आदेश पर 1999 में आसमान की सुरक्षा के नाम पर अमेरिकी वायु सेना द्वारा युगोस्लाविया के निरीह नागरिकों की हत्या और जीवन के आधार को नष्ट किया जाना, ये सब गिनाए जा सकते हैं। सोलहवीं शताब्दी से उन्नीसवीं शताब्दी तक अफ्रीका के रंगीन लोगों को आखेट कर उन्हें बंदी बना गुलाम के रूप में अमेरिका लाना एवं इस क्रम में करोड़ों की मृत्यु—ये सब ईसाइयों द्वारा बीसवीं शताब्दी की सामूहिक हिंसा के पूर्वाभ्यास थे। हिंसा के सवाल पर मानव-विश्वास और व्यवहार के बीच ऐसा घोर विरोधाभास क्यों है, इसे समझे बिना इस पर नियंत्रण पाना संभव नहीं।

इस सवाल पर एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण संवाद 1932 में महान भौतिक वैज्ञानिक अलबर्ट आइंस्टाइन और विख्यात मनोविश्लेषक सिगमंड फ्रायड के बीच हुआ था, जो इस प्रश्न को इसके पूरे परिप्रेक्ष्य में उपस्थित करता है। 1932 में लीग ऑफ नेशन्स एवं इन्टरनेशनल इंस्टिट्यूट ऑफ इंटेलेक्चुअल कोऑपरेशन ने आइंस्टाइन से आग्रह किया था कि वे अपने समय का एक महत्त्वपूर्ण विषय चुन कर उस पर अपनी पसंद के किसी व्यक्ति के साथ वैचारिक आदान-प्रदान करें। आइंस्टाइन का विषय था 'क्या दुनिया को युद्ध की विभीषिका से बचाने का कोई उपाय है?' और इस संवाद के लिए चुने गए व्यक्ति सिगमंड फ्रायड थे। आइंस्टाइन ने फ्रायड को लिखे गए अपने पत्र में यह अनुमान व्यक्त किया था कि निहित स्वार्थ वाले एक छोटे समूह के लिए लोगों में युद्ध उन्माद पैदा करना इसीलिए संभव होता है क्योंकि आदमी के भीतर ही घृणा और विध्वंस की लिप्सा होती है। सामान्य समय में यह लिप्सा प्रच्छन्न रहती है, लेकिन विशेष स्थितियों में इसे पागलपन में बदला जा सकता है। फ्रायड ने मूल रूप से इस स्थापना से सहमति व्यक्त करते हुए इसे मनोविज्ञान और इतिहास की पृष्ठभूमि में प्रस्तुत करने की कोशिश की। 1930 में फ्रायड ने एक पुस्तक लिखी थी, 'सिविलाइजेशन एंड इट्स डिस्कंटेन्ट्स', जिसमें अपने द्वारा पूर्व प्रतिपादित 'इरॉस' यानी जीवन देने वाली प्रेम की सहज प्रवृत्ति (इंस्टिंक्ट) के अलावा 'थानाटोस' यानी मृत्यून्मुख

करने वाली सहज प्रवृत्ति (इंस्टिंक्ट) की अवधारणा को मानव स्वभाव के साथ जोड़ा गया था। फ्रायड के मुताबिक यह समस्या अधिक जटिल इसलिए हो जाती है क्योंकि प्रेम और मृत्यु दोनों के अंतर्निहित मनोभाव अपना प्रभाव मिले-जुले रूप में डालते हैं। उदाहरणतः बाहरी दुश्मनी के खिलाफ युद्ध के लिए अपने समूह के प्रति प्रेम और भाईचारे की भावना का सहारा लिया जाता है।

फ्रायड और आइंस्टाइन, दोनों ही को इस समस्या के समाधान की एक संभावना ऐसी जागतिक सार्वभौम सत्ता और न्यायिक व्यवस्था में दिखाई देती थी जो दुनिया में उठने वाले विवादों का निपटारा कर उन्हें लागू करा सके। लीग ऑफ नेशन्स में ऐसी न्यायिक व्यवस्था तो दिखाई देती थी, लेकिन इसकी सार्वभौमिकता संदिग्ध लगती थी। विडंबना है कि इसी काल में मुसोलिनी फासीवाद का सिद्धांत प्रतिपादित कर रहा था। उसके अनुसार—'फासिस्ट राज्य सत्ता की इच्छा है। इसमें रोम की परंपरा आदर्श है। एक ऐसा साम्राज्य जो प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से दूसरे देशों का मार्गदर्शक है—की कल्पना की जा सकी है जिसके लिए एक किलोमीटर भूमि भी जीतना जरूरी नहीं हो, क्योंकि फासीवाद साम्राज्य यानी राष्ट्र के फैलाव की स्वाभाविक आकांक्षा है। साम्राज्य राष्ट्र की ओजस्विता की अभिव्यक्ति है। इसका विकल्प है घर में सीमित रहना, जो ह्रास का चिह्न है। जो साम्राज्यवादी हैं, वैसे राष्ट्रों का ही जागरण और पुनर्जागरण होता है। जो त्याग की नीति अपनाते हैं, मर जाते हैं।'

यह दिलचस्प है कि फ्रायड ने भी आइंस्टाइन को भेजे गए अपने जवाब में 'पैक्स रोमाना' (रोमन शांति) को छोटे संघर्षों को नियंत्रित कर शांति स्थापित करने वाला माना था। फ्रायड का यह भी मानना था कि आक्रामकता तो स्वाभाविक है, लेकिन एक सर्वोच्च सत्ता की निगरानी में छोटी इकाइयों के संघर्षों को नियंत्रित किया जाता रहा है। फ्रायड को यह भरोसा था कि चूंकि संस्कृति के विकास के साथ उत्तरोत्तर आदमी के आचरण पर मनोभावों की अपेक्षा बुद्धि का नियंत्रण बढ़ता जाता है, अतः इस प्रभाव में आदमी युद्धों के परिणामों को समझते हुए इनसे अपने को अलग रख सकेगा।

लेकिन जिस समय इन दो महान वैज्ञानिकों के बीच यह वैचारिक आदान-प्रदान चल रहा था, उसी समय दुनिया एक ऐसी दिशा अपना रही थी जो फ्रायड की आशा पर पानी फेरने वाली थी। 1933 में हिटलर सत्ता में आया और उसने जर्मनी में एक ऐसा आक्रामक राष्ट्रीय उन्माद फैलाया कि दुनिया को द्वितीय विश्वयुद्ध के विध्वंस से गुजरना पड़ा। यह आशा कि संस्कृति के विकास के साथ मनुष्य के कार्यों पर बुद्धि और विवेक का प्रभाव बढ़ता जाता है, निराधार साबित हुई। उलटे, यह देखने में आया कि बौद्धिक विकास भावनाओं पर नियंत्रण रखने के बजाय उसकी खिदमत में ही हाजिर हो जाता है। आइंस्टाइन के ही ऊर्जा के सिद्धांत पर परमाणु बम बना, जिसका प्रयोग—जैसा कि प्रारंभ में बतलाया गया है—जापान के दो नगरों पर किया गया। द्वितीय विश्वयुद्ध खत्म होने से भी दुनिया में शांति नहीं आई। इसके बाद के काल में अनेक क्षेत्रीय युद्ध और गृहयुद्ध होते रहे हैं जो अपनी हिंसक आक्रामकता और क्रूरता में कम नहीं कहे जा सकते। दक्षिण-पूर्व एशिया के सभी देशों में द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद युद्धों का सिलसिला जारी रहा, जिनमें परोक्ष रूप से रूस एवं चीन और प्रत्यक्ष रूप से अमेरिका की पूरी भागीदारी रही। इनमें वियतनाम का युद्ध तो अपनी तकनीकी बारीकियों और ध्वंसात्मक प्रभावों में द्वितीय विश्वयुद्ध से भी अधिक भयानक था। वियतनाम में शांति के बाद कम्बोडिया में खमेर रूज द्वारा अपनी कल्पना का समाजवादी समाज बनाने के प्रयास में सभी नगरों को लगभग खाली करा दिया गया और वहां के निवासियों को गांवों में खदेड़ दिया गया, जहां यातनाएं देकर उन्हें कठोर शारीरिक श्रम करने को मजबूर किया जाता था। अनुमान किया जाता है कि इस क्रम में 72 लाख की छोटी आबादी वाले इस देश में 17 लाख लोगों की मृत्यु हुई। अरब-इस्राइल युद्ध और ईरान-इराक युद्ध में जहरीली गैसों का प्रयोग किया गया और छोटे बच्चों तक को युद्ध के मोर्चे पर भेजकर कुरबान किया गया। अफ्रीका के अनेक देशों में कबीलों और मूलों के बीच खूनी संघर्ष होते रहे हैं। रवांडा-बुरुंडी में तुत्सी और हुतु के बीच वर्षों से चल रहे संघर्षों में लाखों लोग मारे गए हैं। स्वयं भारत में देश के भारत और पाकिस्तान में बंटवारे के समय कई लाख लोग हिंदू-मुस्लिम दंगों में मारे गए। संख्या के हिसाब से इन छोटे युद्धों और गृहयुद्धों में द्वितीय विश्वयुद्ध से कम लोग हताहत नहीं हुए हैं। मूल-आधारित इन छोटे युद्धों और गृहयुद्धों में उन नियमों का भी लगातार उल्लंघन होता रहा है जिनका उल्लंघन 'विश्वयुद्ध' के विशेषण से सम्मानित युद्धों में युद्ध-अपराध की श्रेणी में रखा गया था।

फ्रायड ने मृत्यु इच्छा की आक्रामकता के रूप में अभिव्यक्त होने का जो अनुमान किया था, उसकी पुष्टि बाद के अध्ययनों से होती दिखाई देती है। बाद के प्राणीशास्त्रियों के अध्ययनों, विशेषकर नोबल पुरस्कार विजेता कॉनराड लौरेन्त्स की शोधों से इस बात की पुष्टि होती है कि मानव समेत जीवों की अधिकांश प्रजातियों में अपनी प्रजाति के दूसरे सदस्यों के प्रति आक्रामकता उनके स्वभाव में निहित

होती है। लौरेन्त्स के अनुसार तो एक स्तर पर पहुंच कर यह आक्रामकता बिना किसी बाहरी उत्तेजना के भी सक्रिय हो सकती है। इस सिद्धांत के मुताबिक ऐसी आक्रामकता की अभिव्यक्ति समूहगत भी होती है और दूसरे समूहों के प्रति आक्रामकता अपने समूह के भीतर के सदस्यों में आपसी प्रेमभाव बढ़ाती है। यह समस्या का एक खतरनाक पहलू है, जिसकी उपस्थिति की पुष्टि विविध समूहों के संघर्ष में चारों ओर होती दिखाई देती है। दूसरे धार्मिक समुदायों के साथ झगड़े में अपने धार्मिक समुदाय के प्रति उपजा प्रेम भाव, दूसरी जातियों के साथ संघर्ष में अपनी जाति के दूसरे सदस्यों के प्रति मित्रभाव का अतिरेक और राष्ट्रीय संघर्षों में राष्ट्र-भक्ति का उन्माद हम चारों ओर देख सकते हैं। इससे समूह से ऊपर उठ सद्भाव के प्रयास कठिन हो जाते हैं।

फ्रायड की प्रारंभिक स्थापना 'इरॉस' की प्रेम की सहज प्रवृत्ति से मिलती-जुलती एक दूसरी प्रवृत्ति 'आल्ट्रुइज्म' यानी परोपकार भाव सभी प्रजातियों और विशेषकर सामूहिक शिकारियों और मनुष्यों में पाया गया है। यह प्रवृत्ति आदमी को अपनी प्रजाति के दूसरे सदस्यों के हित में आत्मोत्सर्ग की प्रवृत्ति है। प्रारंभ में जीव वैज्ञानिकों के लिए 'परोपकार भाव' का स्वभाव में निहित होना अचरज में डालने वाला लगा, क्योंकि प्राकृतिक चयन (नेचुरल सेलेक्शन) की प्रक्रिया में जीवित रहने के लिए तो अपने स्वार्थ की रक्षा ही जरूरी लगती है। इसलिए जो दूसरों के लिए आत्मोत्सर्ग करेंगे, नष्ट हो जाएंगे। इससे जीवों में परोपकारी स्वभाव का आनुवंशिकी में उनके साथ ही लोप हो जाएगा। इसीलिए जीव वैज्ञानिकों में अनेक प्रजातियों में परोपकार भाव का पाया जाना एक पहेली बनी हुई थी। लेकिन जटिल सांख्यिकी के सहारे 'किन सेलेक्शन' यानी अपने सगों के माध्यम से 'जीनो' की रक्षा और इससे आनुवंशिकी में परोपकार भाव का पाया जाना एक संभव जैविक प्रक्रिया के रूप में कबूल किया गया। इस तरह फ्रायड के 'इरॉस' और 'थानाटोस' दोनों की उपस्थिति 'आल्ट्रुइज्म' और 'एग्रेसन' के रूप में सिद्ध हुई। हालांकि फ्रायड के इस अनुमान के विपरीत आक्रामकता नाश की तरफ ले जाने वाली सहज प्रवृत्ति है, जीव वैज्ञानिकों ने इसे प्रजातियों के घनत्व को कम कर संसाधनों के अभाव से बचने और इनको सक्षम व्यक्तियों के नेतृत्व को सुनिश्चित करने का माध्यम माना, जो उनकी रक्षा के लिए जरूरी है।

ऊपर आदमी के स्वभाव में निहित आक्रामकता की चर्चा थोड़े विस्तार से इस बात को रेखांकित करने के लिए जरूरी लगी क्योंकि समाज-सुधारकों में प्रायः यह भ्रम रहा है कि आदमी का मस्तिष्क एक खाली प्लेट जैसा है, जिस पर समाज-व्यवस्था के गुण-दोष ज्यों के त्यों अंकित होते रहते हैं और अगर व्यवस्था ठीक कर दी जाए, तो आदमी का व्यवहार देवतुल्य बन जाएगा। बीसवीं सदी की शुरुआत इसी खुशफहमी के साथ हुई थी। हिंसा-अहिंसा के पचड़े में पड़ना इसलिए भी बेकार लगता था क्योंकि माना जाता था कि साधन की सार्थकता साध्य की उपलब्धि से सिद्ध होती है। संभव है, गंतव्य के बारे में हम आश्वस्त नहीं रह सकते। बीसवीं सदी का अंत पिछले अनुभवों और मानव स्वभाव के अध्ययन से उपजे ज्ञान के कारण शुरुआती खुशफहमी की बजाय निराशा के साथ हो रहा है।

महान आदर्शों से प्रेरित हिंसक क्रांतियों के कुछ उदाहरणों से भी ऊपर की बातों की ही पुष्टि होती है। मानव मुक्ति के सर्वोच्च आदर्शों—स्वतंत्रता, समानता और बंधुत्व—को लेकर सबसे युगांतरकारी क्रांति 1789 में फ्रांस में हुई। लेकिन हिंसा और प्रतिहिंसा की आग में ये आदर्श कुछ ही काल में झुलस गए। क्रांतिकारी उत्साह में जैकोबिनों की हिंसा से आतंक का राज्य स्थापित हो गया। स्वतंत्रता को आधारशिला बनाने वाला जो संविधान बना था, उसे तत्काल दराजों में बंद कर दिया गया। इस हिंसा की प्रतिक्रिया में फिर डायरेक्टरी की हिंसा की शुरुआत हुई और इसके आतंक से अंततोगत्वा निकला नेपोलियन बोनापार्ट का साम्राज्य और अंतरराष्ट्रीय युद्ध। इसके बाद 1830 और 1848 में फिर क्रांतियां हुईं, लेकिन लोकतंत्र की स्थापना नहीं हो सकी। 1748-50 की क्रांति की परिणति लुई नेपोलियन की तानाशाही में हुई। इससे फ्रांस की जनता को निजात मिली 1871 में, जब बिस्मार्क की जर्मनी से फ्रांस बुरी तरह पराजित हुआ और पेरिस पर जर्मनों (प्रशिया) का अधिकार हो गया। अंत में काफी विवाद के बाद थोड़े मतों से जनता के प्रतिनिधियों ने गणतंत्र को पुनः स्थापित करने का निर्णय लिया और फ्रांस में तीसरे गणतंत्र की स्थापना हो पाई।

बर्तानिया में 1649-50 की संसदीय क्रांति का भी कमोबेश यही हश्र हुआ। इस क्रांति ने राजा चार्ल्स प्रथम को तो फांसी की सजा दे दी, लेकिन इस गृहयुद्ध से क्रॉमवेल की तानाशाही का जन्म हुआ। इसकी प्रतिक्रिया में पुनः निरंकुश राजतंत्र की स्थापना हुई। 1788 के शांतिमय परिवर्तन, जिसे ग्लोरियस रिवोल्यूशन कहा जाता है, के बाद ही विलियम और मेरी के शासन में आने के बाद वहां की संसद प्रभुता-संपन्न हुई और संवैधानिक सम्राटशाही अस्तित्व में आई जो अब तक टिकी हुई है। बोल्शेविकों के नेतृत्व में रूस की 1917 की हिंसक 'सर्वहारा क्रांति' इस विश्वास के साथ

हुई थी कि यह वर्ग-युद्ध सभी युद्धों का अंत कर देगा, जिससे वर्गविहीन और अंततः राज्यविहीन साम्यवाद की स्थापना होगी। लेकिन इसकी परिणति स्टालिन की निर्मम तानाशाही में हुई और 70 वर्ष के तानाशाही आतंक का अंत साम्यवाद के उदय की बजाय पूंजीवाद के नवोदय में हुआ। यही हश्र चीन की हिंसक क्रांति का भी हुआ। माओ की तानाशाही और हिंसक संघर्ष के जरिए नौकरशाही समाप्त करने के प्रयास से पैदा सांस्कृतिक क्रांति की उथल-पुथल के बाद विश्व-पूंजीवाद के साथ जुड़ने के लिए चीन का लालायित होना एक बार फिर हिंसक क्रांति और इस क्रम में असंख्य लोगों की बलि चढ़ाए जाने की निरर्थकता को उजागर करता है।

मानव स्वभाव के संबंध में जो चर्चा प्रारंभ में की गई है, उसकी रोशनी में यह समझना आसान है कि हिंसक क्रांतियां क्यों अपने गंतव्य से भटक जाती हैं। चूंकि आक्रामकता मानव स्वभाव में निहित है, किसी उद्देश्य के लिए— चाहे वह कितना ही उदात्त क्यों न हो—जब कुछ लोगों को शक्ति द्वारा क्षति पहुंचाई जाती है, तो वे इस क्षति को चुपचाप स्वीकार नहीं करते, बल्कि उनकी आक्रामकता उभर आती है और वे यथाशक्ति हिंसा का जवाब प्रतिहिंसा से देने की कोशिश करते हैं। फिर इस प्रतिहिंसा से प्रारंभिक हिंसा में उबाल आता है और हिंसा-प्रतिहिंसा की एक शृंखला शुरू होती है, जो तब तक चलती है जब तक आदर्शों की ऊर्जा समाप्त न हो जाए और लोग यथास्थितिवाद में विश्राम के लिए तैयार न हो जाएं। थकान के साथ अपने आदर्शों के प्रति संशय पैदा होता है और फिर उन्हें त्यागने के लिए बहाने ढूंढे जाते हैं।

दरअसल, सभी हिंसक क्रांतियां इस मिथ्या विश्वास पर आधारित हैं कि 'जो शक्तिवान है, वही सत्य है।' अगर यह विश्वास न हो तो फिर यह मानने का क्या कारण हो सकता है कि जो सत्य है, उसी के पक्ष में सबल हिंसा होगी। लोकतंत्र का आधार भी अधिकांश लोगों के लिए यही मिथ्या विश्वास है। इस विश्वास की अभिव्यक्ति इस लैटिन कथन में होती है, 'वोस पौपुली वोसडियु' (जनता की आवाज ईश्वर की आवाज है)। फ्रांस की क्रांति, रूस की क्रांति या चीन की क्रांति में जो भ्रांतियां हुईं उनके पीछे कुछ ऐसा ही विश्वास था कि बहुमत को ऐसा दिव्य ज्ञान प्राप्त है कि वह जो भी करे, समाज के भले के लिए ही होगा, क्योंकि बहुमत सर्वाधिक शक्ति का प्रतीक है। इस विश्वास का खोखलापन लोकतांत्रिक व्यवस्था बनाने के क्रम में कुछ ही दिनों के बाद जाहिर होने लगा था और इसीलिए व्यक्तियों और छोटे समूहों के विचारों की अक्षुण्णता की बात लोकतांत्रिक संविधानों में शामिल की जाने लगी।

अगर जो सत्य है, उसका शक्तिवान होना अनिवार्य नहीं है, सत्य के वर्चस्व के लिए मत-परिवर्तन और हृदय-परिवर्तन का ही एकमात्र मार्ग बच जाता है। आलबेयर कामू ने अपने नाटक 'लजुस्त' में 1905 के एक क्रांतिकारी कालिया येव के माध्यम से हिंसा के प्रति इस संशय को उजागर किया है। कालिया येव को ग्रैंड ड्यूक सर्जी की हत्या के अपराध में मृत्युदंड दिया गया था, जिसे उसने आतुरता से स्वीकार किया। उसका तर्क था, हम जिस न्याय की स्थापना के लिए हिंसा कर रहे हैं, वह वास्तव में स्थापित हो पाएगा यह अनिश्चित है, क्योंकि हम भविष्य के संबंध में निश्चित रूप से कुछ भी नहीं जान सके। अतः अगर इस भविष्य की आशा में हम किसी की हत्या करते हैं, तो हमें इसकी कीमत अपनी जान देकर चुकानी चाहिए, क्योंकि मनुष्य का जीवन एक अमूल्य निधि है जिसे लेने का हमें अधिकार नहीं। यह हमारे अधिकारों पर एक विरामबिंदु है। यह तर्क कितना अकाट्य है, यह हम सहज ही समझ सकते हैं, अगर हम इसे आज के रूस और चीन के परिप्रेक्ष्य में रखने की कोशिश करें। वे अनेक क्रांतिकारी, जिन्होंने 1917 से रूस में और 1929 से चीन में व्यवस्था बदलने में जीवन लिए और जीवन दिए, अगर फिर जीवित हो उठें तो उन आदर्शों के बारे में क्या सोचेंगे जिनके लिए अतीत में सारी हिंसा की गई? समाज-व्यवस्थाएं परिवर्तनीय हैं और आज जिसे आदर्श माना जाता है, कल वह अत्यंत ही त्रुटिपूर्ण माना जा सकता है। व्यवस्थाएं मनुष्य के लिए होती हैं, मनुष्य व्यवस्थाओं के लिए नहीं। अतः सर्वोच्च मूल्य मानव जीवन की सुरक्षा ही हो सकता है। हिंसा की नीति इस बुनियादी सत्य पर प्रश्नचिह्न लगाती है—किसी काल्पनिक आदर्श समाज की आशा में।

लेव टॉल्सटाय जन जीवन को सुधारने, विशेषकर किसानों की स्थिति सुधारने के लिए प्रयत्नशील थे। उन्हीं के काल में नैरोड्निकी नाम का क्रांतिकारी संगठन किसानों के हित में ही आततायियों की हत्या की राजनीति अपना रहा था। कालिया येव, जिसकी चर्चा ऊपर की गई है, उसी संगठन से जुड़ा था। लेकिन टॉलस्टाय ने, जिन्होंने फौजी अफसर के रूप में नजदीक से हिंसा का रूप देखा था, हिंसा को पूरी तरह से नकार दिया था। उन्होंने अपने अंतिम दिनों में हिंसा की शक्ति की जगह प्रेम की शक्ति की कल्पना की थी। लेकिन इसका कोई कारगर रूप हो सकता है, यह उनकी समझ में नहीं आ रहा था। उनकी मृत्यु के कुछ दिनों पहले उन्हें महात्मा गांधी के दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह की खबर मिली और उत्साह में आकर उन्होंने महात्मा गांधी को मरने के पहले एक पत्र भी लिखा था। महात्मा गांधी ने जिस रूप में

सत्याग्रह की कल्पना की थी, उसमें प्रेम की शक्ति थी, अगर हम फ्रायड की बातों को लें तो मानव मन में निहित 'इरॉस' की प्रवृत्ति के प्रयोग की एक झलक पा सकते हैं।

यहां यह भी स्पष्ट कर देना जरूरी लगता है कि भारत में, जहां आज सत्याग्रह के नाम से अनेक आंदोलन चल रहे हैं, अक्सर सत्याग्रह की मूल दृष्टि को नजरअंदाज कर दिया जाता है। जब गांधीजी विरोधियों के प्रति भी प्रेम की बात करते थे, तो उनके लिए यह पाखंड नहीं था। इसका असली उद्देश्य उस आक्रामकता को प्रतिद्वंद्वियों में भी निरस्त करना था जो तब तक संभव नहीं जब तक स्वयं सत्याग्रही उस आक्रामकता या हिंसा के भाव से मुक्त नहीं हो। चौरीचौरा में उग्र भीड़ द्वारा सिपाहियों की हत्या के कारण जब 1923 में महात्मा गांधी ने सत्याग्रह आंदोलन को स्थगित कर दिया, तब उनके अधिकांश सहयोगियों को आश्चर्य और गुस्सा हुआ था, क्योंकि उस समय सत्याग्रह आंदोलन अपने शिखर पर था। अब हम इस चर्चा के परिप्रेक्ष्य में गांधीजी के तर्क को पूरी तरह समझ सकते हैं। सत्याग्रह हिंसक क्रांति की तरह ही संघर्ष की एक दूसरी रणनीति का दूसरा हथियार नहीं है, जिसे मौके के अनुसार बदला जा सके। यह आक्रामकता की जगह मनुष्य में अंतर्निहित एक विपरीत तरह की शक्ति को जागृत करने की प्रक्रिया है—मनुष्यों को एक-दूसरे से मित्रता के बंधन में बांधने वाली परोपकारी या प्रेम की शक्ति को जागृत करने की प्रक्रिया। जब अफ्रीका की जेल से अपने प्रमुख विरोधी जनरल स्मट्स के लिए गांधीजी चप्पल बनाकर उपहार के रूप में भेजते हैं, तो यह संकेत देते हैं कि अपने सैद्धांतिक विवादों के परे, वे दोनों एक मानवीय बंधन से बंधे हुए हैं। इसी बुनियादी दृष्टि के कारण सत्याग्रह में विविध परिस्थितियों में प्रयोग में लाए जाने की क्षमता आती है। भारत की आजादी की लड़ाई से लेकर अमेरिका के रंगीन लोगों की समान नागरिकता की लड़ाई, क्रिसलिंग की फासीवादी हुकूमत के खिलाफ नार्वे के शिक्षकों की अपनी जमीर की लड़ाई और चेक लोगों का उनके देश पर सोवियत संघ के कब्जे के खिलाफ असहयोग का सफल प्रयोग इसे मानवीय उद्देश्यों की पूर्ति के लिए हिंसा के विकल्प में एक कारगर साधन के रूप में प्रस्तुत करते हैं।

यह कहा जा सकता है कि चूंकि हिंसा मानव मन की एक स्वाभाविक प्रवृत्ति है, इसे नियंत्रित नहीं किया जा सकता। इस तर्क को कबूल करना हमारी सारी सांस्कृतिक विरासत को नकारना है। मनुष्य की संस्कृति का विकास बहुत हद तक मनुष्य के मनोभावों को नियंत्रित करके ही संभव हुआ है। मनोभावों को नियंत्रित करने की संस्कृति की यह भूमिका इतनी महत्त्वपूर्ण है कि मनोभावों के विशेषज्ञ फ्रायड संस्कृति को प्रवृत्तियों का कठोर निषेधक मानते हैं और इसी निषेध को अनेक मनोरोगों का कारण मानते हैं। आज की स्थिति में जब अनेक शस्त्रास्त्रों से लैस हो संसार भीतरी और बाहरी संघर्षों से विनाश के कगार पर खड़ा है, हमें अस्तित्व रक्षा के लिए संस्कृति को कबूल कर कम से कम सामूहिक जीवन में हिंसा का निषेध करना ही पड़ेगा। ❖

कर्म क्या है, अकर्म क्या है ? इस विषय में बुद्धिमानों को भी भ्रम होता है। इसलिए मैं तुझे बताऊंगा कि कर्म कैसे करना चाहिए। इसे जान कर तू अशुभ से बचेगा।

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्।। (4-18)

जो कर्म में अकर्म और अकर्म में कर्म को देखता है, वह मनुष्यों में सच्चा ज्ञानी है। वह सब कर्मों को करता हुआ भी योगी है।

—चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य
'भगवद्गीता' पर विवेचन

द्रव्यकर्म, भावकर्म दोनों में कार्य-कारण संबंध है। मिट्टी का पिंड घटाकार में परिणत होता है। मिट्टी उपादान है। कुम्हार न हो तो मिट्टी में घट बनने की योग्यता होते हुए भी घट नहीं बन सकता। कुम्हार निमित्त कारण है। पुद्‌गल द्रव्यकर्म का उपादान है। किंतु भावकर्म की असत्ता में पुद्‌गल द्रव्यकर्म रूप परिणति में अक्षम होता है। भावकर्म भी निमित्त है। दोनों में निमित्त नैमित्तिक संबंध कहा जा सकता है।

क्रियावाद बनाम कर्मवाद

⊙ साध्वी गवेषणा

क्रिया और कर्म में कार्य-कारण संबंध है। प्रत्येक कार्य के पीछे कारण अवश्यंभावी है। कारण ही कार्य का नियामक है। क्रिया कारण है, कर्म कार्य है। क्रिया के अभाव में कर्म संभव नहीं। हर क्रिया की प्रतिक्रिया होती है। प्रतिक्रिया का पर्याय कर्म है। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के शब्दों में—कर्म क्रिया का उपजीवी है, क्रिया कर्म की जननी है। तर्कशास्त्र के आधार पर दोनों में अन्वय-व्यतिरेक संबंध है।

दार्शनिक ग्रंथों के परिशीलन से ज्ञात होता है कि कर्म शब्द अनेक अर्थों का संवाहक है। वेदों से लेकर ब्राह्मण ग्रंथों तक वैदिक परंपरा में यज्ञ-याग नित्य-नैमित्तिक क्रियाओं को कर्म कहा है।[1] पौराणिकों के मतानुसार कर्म का तात्पर्य धार्मिक क्रियाओं से है।[2]

'यत् क्रियते तत् कर्म'[3] इस व्युत्पत्ति से किसी कार्य या व्यापार का नाम कर्म है। आचार्य तुलसी ने कर्म की परिभाषा करते हुए लिखा है—आत्मा की सत एवं असत प्रवृत्तियों के द्वारा आकृष्ट एवं कर्म रूप में होने योग्य पुद्‌गलों को कर्म कहा है।[4] वैयाकरणों ने कर्म कारक के अर्थ में 'कर्म' शब्द का प्रयोग किया है।[5] न्यायदर्शन में कर्म का भावार्थ चलनात्मक क्रिया से है। वहां उत्क्षेपणा, अवक्षेपणा, आकुंचन, प्रसारण और गमन—इस प्रकार कर्म के पांच प्रकार बतलाए हैं। गीता में कर्म का व्यापक अर्थ है—मनुष्य जो भी करता है या करने का आग्रह रखता है—वे सभी प्रवृत्तियां कर्म के अंतर्गत समाविष्ट की हैं। राजवार्तिक में कर्म शब्द, कर्ता, कर्म और भाव तीनों रूप में विवक्षानुसार परिग्रहित है। तात्पर्य है—कारणभूत परिणामों की विवक्षा में कर्तृधर्म का आरोप करने पर वही परिणाम स्वयं द्रव्य-भाव रूप कुशल कर्मों को करता है—अतः वही कर्म है। आत्मा की प्रधानता में वही कर्ता होता है, और परिणाम होता है—करण, जिनके द्वारा किया जाए वह कर्म है। साध्य-साधन भाव की विवक्षा न होने पर स्वरूप मात्र का कथन करने से क्रिया को भी कर्म कहते हैं। इस प्रकार अन्य कारकों की भी उपपत्ति की जा सकती है।[6]

लेखिका शोध अध्येता है

बौद्ध दर्शन में चेतना को ही कर्म कहा है। चेतना के द्वारा व्यक्ति काया से, मन से, वाणी से कर्म करता है। कर्म के समुत्थान या कारक को ही कर्म कहा गया है। आगे चेतना कर्म और चेतयित्वा कर्म की चर्चा भी मिलती है। चेतना कर्म से मतलब मानसिक कर्म, चेतयित्वा कर्म से वाचिक एवं कायिक कर्म लिया जाता है।[7] जैनदर्शन में क्रिया का एक पर्याय कर्म है। सामान्यतया कोई भी क्रिया कर्म है। चाहे मानसिक हो या वाचिक और कायिक। कर्म के हेतु, क्रिया और कर्म विपाक सभी को कर्म कहा है। कर्म सिद्धांत जैन-दर्शन का प्राण-तत्त्व है। उसके बिना अध्यात्म की व्याख्या नहीं की जा सकती।

भारतीय आस्तिक दर्शनों ने एक ऐसी सत्ता को स्वीकार किया है जो आत्मा को प्रभावित करती है। जैन-दर्शन जिसे कर्म कहता है। अन्य दर्शन नाम-भेद से—माया, अविद्या[8], प्रकृति[9], अपूर्व[10], अदृष्ट[11], वासना[12], कर्माशय[13], दैव, भाग्य, संस्कार आदि शब्दों का व्यवहार किया जाता है। किंतु मौलिक भेद बहुत कम है। प्राचीन वैदिक साहित्य में कर्म-सिद्धांत की व्याख्या इतनी स्पष्ट नहीं जितनी जैन एवं बौद्ध दर्शन में है।

कर्म सिद्धांत का उद्‌भव और विकास

दृश्यमान सृष्टि की विषमताएं—वैचित्र्य व्यक्ति को यह जानने के लिए विवश करता है कि इसके पीछे कारण क्या है? कारणों के अनुसंधान में कर्म-सिद्धांत का विकास हुआ। यद्यपि श्वेताश्वेतर उपनिषद[14] में काल, स्वभाव आदि समवायों का उल्लेख है, किंतु विश्व की व्याख्या करने में इन सिद्धांतों की अक्षमता परिलक्षित हुई है। तब कर्म-सिद्धांत अस्तित्व में आया। इसके आधार पर वैयक्तिक

भिन्नता, सुख-दुखानुभूति, सद्प्रवृत्तियों के प्रति नैसर्गिक रुचि आदि में व्यक्ति के अपने पूर्व कर्म ही कारण हैं। यह मान्यता जैन, बौद्ध और आजीवक आदि परंपराओं को समान रूप से मान्य रही है।

न्याय-वैशेषिक दर्शनों ने ईश्वर कर्तृत्व की अवधारणा में भी वैयक्तिक भिन्नता का निमित्त अदृष्ट या कर्म की महत्ता स्वीकार की है। फिर भी श्रमण परंपरा में जो महत्त्व मिला, ईश्वरवादी परंपरा में वह संभव नहीं हो सकता, कारण कर्म-सिद्धांत पर ईश्वर की सत्ता प्रतिष्ठित रही।

श्रमण परंपरा में आजीवक परंपरा अतीत के गर्भ में विलुप्त हो चुकी है। उसकी साहित्य-संपदा भी प्राप्य नहीं है। बौद्ध दर्शन में कर्म स्वीकार्य है, किंतु उनकी दृष्टि में कर्म चित्त-संतति का ही परिणाम रहा है। दूसरी बात, बौद्धों ने कर्म को चैतसिक ही माना है, जबकि निर्ग्रंथ परंपरा में कर्म चैतसिक और भौतिक उभय रूप है। दोनों पक्षों को मान्य कर एक सुव्यवस्थित कर्म-सिद्धांत की विवेचना की गई।

जैन परंपरा में यह सिद्धांत क्रमिक रूप से किस प्रकार विकसित हुआ? डॉ. रवीन्द्रनाथ मिश्र ने अपनी पुस्तक 'जैन कर्म सिद्धांत उद्भव और विकास' को काल क्रम की दृष्टि से तीन भागों में विभक्त किया है—

उद्भव काल (ई. पू. छठीं से ई.पू. तीसरी शताब्दी), व्यवस्थापन काल (ई.पू. दूसरी से तीसरी शताब्दी तक), विकास-काल (ई. की चौथी से बारहवीं शताब्दी तक। डॉ. मिश्र के अभिमत से उद्भव काल में कर्म के मूलभूत सभी तथ्य अस्तित्व में आ चुके थे। जैसे—कर्मों का संचय, उनका शुभाशुभफल, कर्मबंध के कारण—राग, द्वेष और मोह, पुनर्जन्म आदि।

व्यवस्थापन काल में कुछ और नई बातें साथ में जुड़ गईं। जैसे कर्म मूलोत्तर प्रकृतियों का वर्गीकरण, बंधन के भिन्न-भिन्न कारण, बंध के हेतु, प्रकृति आदि—चार बंध, कर्म की दस अवस्थाएं, कर्म-सत्ता की कालावधि, कर्म-विपाक की चर्चा आदि।

विकास-काल के आगमन के साथ कर्म-सिद्धांत का विस्तार हो गया। अनेक स्वतंत्र ग्रंथों की रचनाएं होने लगीं। जैन दार्शनिक अवधारणाएं, कर्म-सिद्धांत के संबंध में उत्पन्न समस्याओं का समाधान, उसे गणितीय रूप प्रदान करना आदि। कर्म-सिद्धांत पर स्वतंत्र ग्रंथ-रचना विद्वानों की दृष्टि में ई. सं. पांचवीं शताब्दी के पश्चात् की है। यह ऐतिहासिक विकास-क्रम की एक प्रस्तुति है।

सामान्य रूप से प्राणी की शारीरिक अथवा मानसिक क्रिया को कर्म शब्द से अभिहित किया जाता है, किंतु कर्म-सिद्धांत की व्याख्या-भूमिका पर शारीरिक-मानसिक क्रिया के कारण और परिणाम पर अधिक ध्यान दिया गया है। अतः कर्म के तीन अंग बन गए—

1. क्रिया के प्रेरक तत्त्व, 2. क्रिया, 3. क्रिया का परिणाम।

क्रिया के प्रेरक तत्त्व क्या हैं? इस संदर्भ में बौद्धों ने चैतसिक वृत्तियों को व्याख्यायित किया है। वहां जैन परंपरा में चैतसिक वृत्तियों के साथ उनके परिणाम पर भी विचारणा की है। किसी भी क्रिया के मूल में रही चैतसिक भावधारा को जैन पारिभाषिक शब्दों में भावकर्म की संज्ञा दी है। क्रिया चाहे चैतसिक हो या दैहिक, अपने परिवेश में परिस्पंदन उत्पन्न करती है। परिस्पंदन से कर्म प्रायोग्य पुद्गल आकृष्ट हो आत्मा को बंधन में डाल देते हैं। आचारांग में द्रव्य और भावकर्म जैसा शब्द प्रयोग नहीं मिलता, किंतु चैतसिक पक्ष के साथ-साथ कर्म[15] शरीर और कर्मरज[16] जैसी अवधारणा स्पष्ट है। कर्मरज यानी आश्रव का संकेत। इसका तात्पर्य है कर्म के भौतिक पक्ष का स्वीकार। चाहे उस काल तक द्रव्यकर्म और भावकर्म जैसी पारिभाषिक शब्दावली का विकास नहीं हुआ हो, किंतु दोनों पक्ष उनके सामने विद्यमान थे।

द्रव्य-भावकर्म की चर्चा : जैन-दर्शन में क्रिया और क्रिया के हेतुभूत कारण दोनों को कर्मसंज्ञा से अभिव्यक्त किया है। कर्म के दो प्रकार हैं—द्रव्यकर्म और भावकर्म। द्रव्यकर्म पुद्गल रूप है। राग-द्वेषात्मक परिणाम भावकर्म है।

आ. नेमीचन्द्र सिद्धांत चक्रवर्ती के शब्दों में—पुद्गल पिंड द्रव्यकर्म और चेतना को प्रभावित करने वाली उसकी शक्ति भावकर्म है।[17] पूरे ब्रह्मांड में कर्म वर्गणा के परमाणु परिव्याप्त हैं। वे पुद्गल परमाणु स्वयं कर्म नहीं, किंतु कर्म बनने की योग्यता रखते हैं। प्राणी के भीतर जब राग-द्वेषात्मक भावों का उद्रेक होता है[18], तब आत्म क्षेत्रावगाही कार्मण वर्गणा के पुद्गल कर्म रूप में रूपांतरित होकर आत्मा के साथ संपृक्त हो जाते हैं।[19] द्रव्यकर्म पुद्गल रूप है। भावकर्म परिणाममय है।

जैन मनीषियों ने हर तत्त्व की गहराई तक पहुंचने के लिए द्रव्य-भाव के भेदों से रास्ता सुखद बना दिया। एक तथ्य को विश्लेषित करने के लिए उन्होंने नय, निक्षेप, अनेकांत, कर्म, क्रिया, द्रव्य-भाव आदि भिन्न-भिन्न आयामों का आलंबन लिया है। वैसा अन्यत्र दुर्लभ है।

प्रश्न होता है, भावकर्म की उत्पत्ति में द्रव्यकर्म को निमित्त क्यों माना जाए? इस संदर्भ में समाधान की भाषा होगी कि द्रव्यकर्म के अभाव में भावकर्म की उत्पत्ति नहीं होती है। यदि द्रव्यकर्म हीनभाव कर्म का उद्भव संभव है तो मुक्त जीवों के भी भावकर्म होगा और उन्हें पुनः संसार चक्र में आना पड़ेगा। ऐसे तो संसार और मोक्ष की भेद-रेखा समाप्त हो जाएगी। अतः मानना होगा कि द्रव्यकर्म के नहीं रहने से भावकर्म का भी अस्तित्व नहीं होगा। द्रव्यकर्म की विद्यमानता में ही संसारी जीवों के भावकर्म होता है। इस प्रकार द्रव्यकर्म से भावकर्म और भावकर्म से द्रव्यकर्म का अनादिकालीन क्रम चल रहा है।

द्रव्यकर्म, भावकर्म दोनों में कार्य-कारण संबंध है। मिट्टी का पिंड घटाकार में परिणत होता है। मिट्टी उपादान है। कुम्हार न हो तो मिट्टी में घट बनने की योग्यता होते हुए भी घट नहीं बन सकता। कुम्हार निमित्त कारण है। पुद्‌गल द्रव्य-कर्म का उपादान है। किंतु भाव-कर्म की असत्ता में पुद्‌गल द्रव्यकर्म रूप परिणति में अक्षम होता है। भावकर्म भी निमित्त है। दोनों में निमित्त नैमित्तिक संबंध कहा जा सकता है।

प्रश्न हो सकता है, व्यक्ति की प्रवृत्ति या क्रिया को भावकर्म कहते हैं, किंतु कौन-सी क्रिया भावकर्म है? स्पष्टीकरण की अपेक्षा है। चार कषाय आत्मा का आभ्यंतर परिणाम है, इसे भावकर्म कहें या राग-द्वेष, मोह रूप आत्मा परिणाम को?

जैन दर्शनानुसार कर्म के बंध में कषाय एवं योग[20] दोनों निमित्त हैं। योग के व्यापार में भी कषाय के रंग की उपस्थिति रहने पर भी भावकर्म की तीव्रता-मंदता संभव है। अतः कषाय, राग-द्वेष, मोह[21] भी भावकर्म हैं।

जैन मान्यता से संसारी जीव की हर प्रवृत्ति तो कर्म है, किंतु उसके साथ जुड़ने वाली मानसिक चिंतना भी भावकर्म के रूप में स्वीकार्य है। द्रव्यकर्म केवल औपचारिक संज्ञा है, क्योंकि वह आत्मा की क्रिया से उत्पन्न होता है। यहां कार्य में कारण का उपचार है—भावकर्म कारण है, द्रव्यकर्म कार्य है। यह कार्य-कारण भाव मुर्गी और अंडे के कार्य-कारण भाव के सदृश है। संतति की अपेक्षा कार्य-कारण संबंध अनादि है।

अन्य दार्शनिकों ने इस तथ्य को अभिधाओं में स्वीकार किया है। नैयायिकों में राग, द्वेष और मोह तीन दोषों से प्रेरणा प्राप्त कर जीवों के मन-वचन, काया की प्रवृत्ति होती है। इस प्रवृत्ति से धर्म-अधर्म की उत्पत्ति होती है। उन्हें संस्कार कहा जाता है।[22]

न्याय वैशेषिक में दोष से प्रेरणा, प्रवृत्ति, धर्म-अधर्म की निष्पत्ति और इससे संस्कार, संस्कार से जन्म—यह मान्यता जैन-दर्शन द्वारा स्वीकृत द्रव्यकर्म-भावकर्म के समकक्ष ही है।

योग दर्शन के अनुसार अविद्या, अस्मिता, राग-द्वेष, अभिनिवेश इन पांच क्लेशों से क्लिष्टवृत्ति चित्त-व्यापार की उत्पत्ति होती है। उससे धर्म-अधर्म रूप संस्कारों का आविर्भाव होता है।

सांख्य मत से रागादि भाव प्रकृति के विकार हैं। लिंग शरीर भाव के बिना उत्पन्न नहीं होता और भाव, लिंग शरीर के अभाव में नहीं रहता।[23]

जैन-दर्शनसम्मत भावकर्म की तुलना, सांख्यसम्मत भाव से[24] योगसम्मत वृत्ति से[25] और द्रव्यकर्म अथवा कार्मण शरीर की तुलना लिंग शरीर से की जा सकती है।

बौद्ध-दर्शन में वर्णित कर्म के कारणभूत राग, द्वेष, मोह जैनों के भावकर्म के समकक्ष हैं। मन-वचन-काय का प्रत्यक्ष कर्म और उससे उत्पन्न वासना तथा अविज्ञप्ति द्रव्यकर्म के समान हैं।

कर्म के स्वरूप की विस्तृत चर्चा से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि भावकर्म के विषय में किसी अन्य दार्शनिक मत की कोई आपत्ति कहीं दृष्टिगत नहीं है। सभी ने कर्म के हेतुभूत राग-द्वेष आदि को मान्यता दी है।

शब्द और उसकी अभिव्यंजनागत भिन्नता होते हुए भी समानता है। मन, वचन एवं काया रूप योगों की परिस्पंदनात्मक क्रिया अविरत चलती है। किंतु उन्हें कषायों का योग न मिले तो वे कर्म-बंधन में सक्रिय निमित्त नहीं बनती। कषाययुक्त बंधन सांपरायिक बंध कहलाता है। आत्मा कभी कर्म पुद्‌गलों को अपनी ओर आकृष्ट नहीं करती, कारण उसके पास ऐसी कोई ऊर्जा शक्ति नहीं है। आकृष्ट करने का माध्यम भावकर्म है।

भाव-जगत में कर्म का प्रभाव

भाव-जगत कर्म-परमाणुओं को प्रभावित करता है। कर्म-परमाणु भाव-जगत को प्रभावित करते हैं। कर्मों का मूल है—राग-द्वेष। राग-द्वेष का संक्षेप है—मोह, और विस्तार है—कषाय (क्रोध, मान, माया, लोभ)।

चेतना की विविध अवस्थाओं में निमित्त होने वाले द्रव्य कर्म हैं। द्रव्यकर्म-भावकर्म दोनों अन्योन्याश्रित हैं। अष्ट सहस्री में आचार्य विद्यानंदी ने द्रव्यकर्म को आवरण एवं भावकर्म को दोष माना है। कारण द्रव्यकर्म आत्म-शक्ति के प्रस्फोटन अवरोधक हैं तो भावकर्म आत्मा की वैभाविक अवस्था हैं।[26]

यद्यपि मनोविकार या वैभाविक अवस्थाएं आत्मा की अपनी परिणति हैं, किंतु कर्म वर्गणाएं निमित्तरूप में अपनी भूमिका निर्वाह करती हैं। जैसे—स्वभाव परिवर्तन में जैव-रसायन और 'हार्मोन्स' का परिवर्तन निमित्त है वैसे ही विकारी भावों का कारण कर्म वर्गणा है। अतः द्रव्यकर्म-भावकर्म परस्पर सापेक्ष हैं। बीजांकुर की तरह संबद्ध हैं, पूर्वापरता का निर्णय संभव नहीं।

कर्मवाद मनोविज्ञान

कर्मवाद जैन-दर्शन का मनोविज्ञान है। कर्म-शास्त्र के अध्ययन के बिना न मन को समझा जा सकता है, न व्यक्तित्व की व्याख्या हो सकती है। बहुत विशाल एवं सूक्ष्म है कर्म का जगत। उसके सामने छह सौ खरब कोशिकाओं से निर्मित स्थूल शरीर और शरीर में प्रति सैकंड पांच करोड़ कोशिकाएं तथा प्रति मिनट तीन अरब कोशिकाएं उत्पन्न और विनष्ट होती हैं। कितने ही रासायनिक परिवर्तन होते हैं। यह सब आश्चर्यजनक है। किंतु कर्म शरीर इससे सूक्ष्मतम है। स्थूल शरीर की संरचना को समझ पाना भी सरल नहीं है, वहां कर्म शरीर को समझना जटिल समस्या है। कर्मवाद जैन चिंतकों की विश्व को मौलिक देन है। जैसा सुव्यवस्थित, परिमार्जित और वैज्ञानिक विश्लेषण जैन-दर्शन देता है, अन्यत्र दुर्लभ है।

क्रिया कर्म का पर्यायवाची

क्रिया शब्द कर्म का पर्यायवाची है। इस अपेक्षा से धवला में इसकी विवेचना इस प्रकार है—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, काल, जीवास्तिकाय और पुद्गलास्तिकाय—ये छहों द्रव्य स्वभाव से परिणमनशील हैं। प्रतिसमय इनमें स्वभावानुसार परिणमन क्रिया होती रहती है। इस कारण से छहों द्रव्यों का द्रव्यकर्म से भी ग्रहण किया है।

जीव द्रव्य का ज्ञान-दर्शनादि रूप में होने वाला परिणमन उसकी सद्भाव क्रिया है। पुद्गल द्रव्य का वर्ण-गंध-रस-स्पर्श में परिणमन उसकी सद्भाव क्रिया है। इसी प्रकार धर्म-अधर्म द्रव्य का जीव एवं पुद्गल की गति-स्थिति में हेतुभूत होना तथा काल और आकाश द्रव्यों के परिणमन तथा अवगाह में निमित्त रूप होने वाला रूपांतरण उन द्रव्यों की सद्भाव क्रिया है। क्रियाओं द्वारा वे द्रव्य सद्भाव से ही निष्पन्न हैं, इसलिए सब द्रव्यकर्म हैं।[27] द्रव्यकर्म होने से ये कर्म भावकर्म की कोटि में तब तक नहीं आते, जब तक वे जीव के राग-द्वेषादि परिणामों से आकृष्ट होकर संबद्ध न हो जाएं।

वस्तुतः वही क्रियाएं कर्म बंध रूप होती हैं जो आत्मा द्वारा प्राप्त हों अर्थात् जो राग-द्वेष युक्त चेतनकृत हों। द्रव्य और भाव की इस अवधारणा के आधार पर जैनों का कर्म-सिद्धांत अधिक न्यायसंगत बन गया है। कर्म जड़तत्त्व और चेतना के बीच एक योजक कड़ी है।

सामान्यतः कर्म का अर्थ हम क्रिया और प्रवृत्ति समझते हैं, किंतु जैन विचारणा से कर्म का अर्थ आत्म-शक्ति को प्रभावित और कुंठित करने वाला सूक्ष्म भौतिक तत्त्व है। आत्माओं की विविधता का हेतु भी कर्म ही है।

भगवती सूत्र का संवाद इसका पोषक है। गौतम ने भगवान महावीर से पूछा—भंते! यह विभक्ति कहां से हो रही है? यह वैचित्र्य, विभाजन, विषमता कहां से पैदा हो रही है? इनका जनक तत्त्व क्या है?

भगवान महावीर ने कहा—गौतम! यह सारी विभक्ति कर्म के द्वारा हो रही है। इन सब भेद-रेखाओं का जनक कर्म है।[28] ❖

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. भारतीय दर्शन, पृ. 12
2. जैन धर्म दर्शन, पृ. 442
3. षट्खण्डागम, भाग 6, पृ. 18
4. जैन सिद्धांत दीपिका, 4.1, आत्मनः सद्सत्प्रवृत्याऽकृष्टा-स्तत्प्रायोग्यपुद्गलाः कर्मः।
5. अष्टाध्यायी 1/4/49, कर्तुरीप्सिततमं कर्म।
6. तत्त्वार्थ राजवार्तिक, 6/1/7/504/26, उदधृत-कर्म विज्ञान
7. अंगुत्तर निकाय, बौद्ध-दर्शन व अन्य भारतीय दर्शन, पृ. 463
8. ब्रह्मसूत्र, शांकर भाष्य, 2/1/14
9. सांख्यकारिका, सांख्य तत्त्व कौमुदी
10. मीमांसा, शाबर भाष्य, 2/1/5
11. न्याय भाष्य, 1/1/2, न्यायसूत्र, 1/1/7, 4/1/3.9, न्याय मंजरी, पृ. 471
12. अभिधर्मकोष, परिच्छेद 4
13. न्याय मंजरी, पृ. 472
14. आत्म मीमांसा, पृ. 95
15. आचारांग, 1/2/6/163, अंग सुत्ताणि प्रथम, आ. महाप्रज्ञ, जैन विश्वभारती, लाडनूं।
16. आचारांग सूत्र, एक अध्ययन, पृ. 130, पार्श्वनाथ शोध पीठ वाराणसी।
17. गोम्मटसार (कर्मकांड) गा. 6, पृ. 8। पोग्गल पिण्डौ दव्वं तस्सत्ती भावकम्मेतु
18. उत्तराध्ययन, 37/71

19. तत्त्वार्थसूत्र, 8/25
20. पंचम कर्म ग्रंथ, गा. 96
21. (क) उत्तराध्ययन, 32/6, 30/10, (ख) तत्त्वार्थ, 8/2, (ग) स्थानांग, 2/2, (घ) समयसार, 94,96, 109, 177
22. न्याय भाष्य—(क) 1/1/2, (ख) न्याय सूत्र, 1/1/17, (ग) न्याय मंजरी पृ. 471-472
23. सांख्यकारिका, पृ. 41
24. सांख्यकारिका, पृ. 40
25. सांख्यकारिका, पृ. 28,29,30
26. अष्ट सहस्री, पृ. 51
27. धवलाखंड, 13/5,4 सूत्र 14/43/7, कर्म विज्ञान से उद्धृत
'जीव दव्वस्स णाण दंसणेहिं परिणामो सब्भाव-किरिया, पोग्गल दव्वस्स वण्ण-गंध-रस-फास-विसेसिहिं परिणामो सब्भाव-किरिया। एवमादीहि किरिया हि जाणि। दव्वाणि सब्भाव किरिया, णिप्फणणि सहावदो चेव दव्वाणि, तं सव्वं दव्वकम्मं णाम।'
28. भगवती

❖❖

जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा

हे प्रभो! यह तेरापंथ

शाखा कार्यालय–पुरानी लेन, गंगाशहर 334401 (राज.)
फोन : 270779, 271961 ● फैक्स : 270779, 271254

उपासक प्रशिक्षण शिविर

प्रतिवर्ष की भांति इस वर्ष भी उपासक प्रशिक्षण शिविर का आयोजन महासभा द्वारा दिनांक 5.8.2001 से 13.8.2001 तक बीदासर में परमाराध्य आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के पावन सान्निध्य व श्रद्धेय युवाचार्यश्री महाश्रमणजी के कुशल निर्देशन में किया जा रहा है।

इस शिविर का मुख्य उद्देश्य है प्रशिक्षित उपासक तैयार करना, जो केंद्र द्वारा निर्दिष्ट क्षेत्र में जाकर पर्युषण पर्व की आराधना करवाने में श्रावक समाज का सहयोगी बन सके। विशेषकर उन क्षेत्रों में जहां साधु-साध्वियों का चातुर्मास नहीं होता, ऐसे क्षेत्र पर्युषण पर्व की आराधना हेतु उपासकों को भिजवाने का निवेदन महासभा कार्यालय, गंगाशहर अथवा केंद्र में कर सकते हैं, जिसके आधार पर उपासकों को भिजवाने की व्यवस्था यथासंभव केंद्र द्वारा की जाती है।

ऐसे श्रावक जो तेरापंथ धर्मसंघ के प्रति आस्थावान हों व जिनमें तत्त्वज्ञान, जैन इतिहास की प्राथमिक जानकारी, धार्मिक कार्यों में रुचि, वक्तृत्व क्षमता हो, या उसके विकास की संभावना हो तथा पर्युषण पर्व आराधना करवाने हेतु केंद्र द्वारा निर्दिष्ट क्षेत्र में जाने को तैयार हों व वर्ष में कम से कम तीन सप्ताह का समय दे सकते हों तथा जिनकी आयु 65 वर्ष से अधिक न हो, उन्हें इस शिविर में भाग लेने हेतु महासभा आमंत्रित करती है। शिविर में भाग लेने वालों के लिए आवास, भोजन, साहित्य व प्रशिक्षण का समुचित प्रबंध महासभा की ओर से निःशुल्क किया जाएगा। पहले से भाग ले चुके उपासकों के पास जो साहित्य है वे उसे अपने साथ अवश्य लावें।

उपासक योजना की और अधिक जानकारी हेतु महासभा के गंगाशहर कार्यालय से पत्र-व्यवहार कर सकते हैं।

सुमेरमल सुराणा
राष्ट्रीय प्रभारी, उपासक मंडल

निर्मलकुमार नौलखा
राष्ट्रीय सह-प्रभारी, उपासक मंडल

प्रधान कार्यालय–3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता 700001 ● फोन : 2357956

अनुभूति

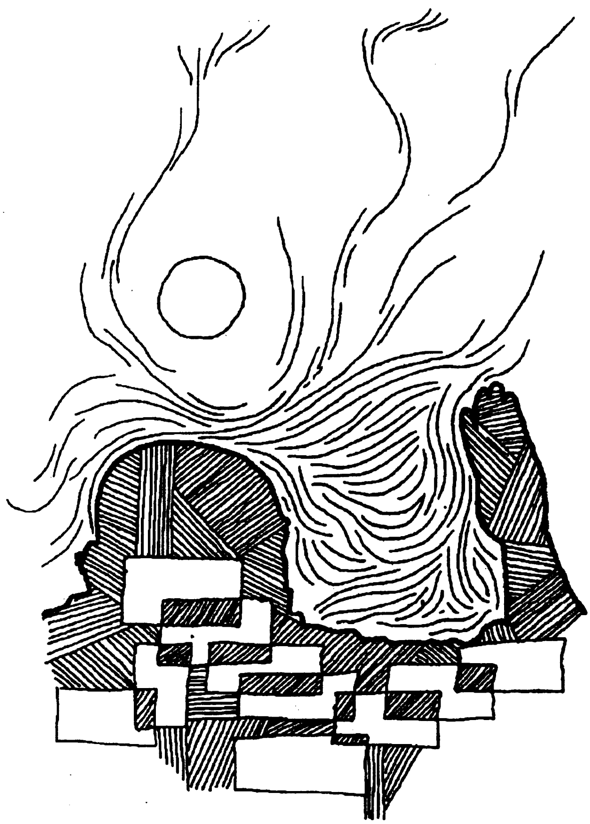

उत्तर नहीं हूं

उत्तर नहीं हूं
मैं प्रश्न हूं तुम्हारा ही!

नए-नए शब्दों में तुमने
जो पूछा है बार-बार
पर जिस पर सबके सब केवल निरुत्तर हैं
प्रश्न हूं तुम्हारा ही!

तुमने गढ़ा है मुझे
किंतु प्रतिमा की तरह स्थापित नहीं किया
या
फूल की तरह
मुझको बहा नहीं दिया
प्रश्न की तरह मुझको रह-रह दोहराया है
नई-नई स्थितियों में मुझको तराशा है
सहज बनाया है
गहरा बनाया है
प्रश्न की तरह मुझको
अर्पित कर डाला है
सबके प्रति

दान हूं तुम्हारा मैं
जिसको तुमने अपनी अंजलि में बांधा नहीं
दे डाला!

उत्तर नहीं हूं मैं
प्रश्न हूं तुम्हारा ही!

—धर्मवीर भारती

कुछ लोगों का मत है कि पूर्ण ब्रह्मचर्य का शरीर और मन पर अनुकूल प्रभाव नहीं होता। इस मत में सचाई का अंश भी है, पर उसी स्थिति में जब ब्रह्मचर्य का पालन केवल विवशता की परिस्थिति में हो। चिंतन के प्रवाह को काम-वासना की लहरों से मोड़कर अन्य उदात्त भावनाओं की ओर ले जाया जाए तो ब्रह्मचर्य स्ववशता की परिस्थिति में विकास पाता है। वह शरीर और मन की सूक्ष्मतम स्थितियों पर बड़ा लाभदाई प्रभाव डालता है।

साधना के आधार बिंदु

⊙ आचार्यश्री तुलसी

महर्षि पतंजलि ने अष्टांग योग का प्रतिपादन किया है और उनमें पहला अंग यम है। जैन साधना पद्धति का पहला अंग महाव्रत है। महाव्रतों को मूल गुण और शेष साधना के अंगों को उत्तर गुण माना जाता है। महाव्रतों के होने पर अन्य साधना के अंग विकसित हो सकते हैं। इनके न होने पर वे विकसित नहीं हो सकते। इसीलिए महाव्रत मूल गुण हैं। सुदृढ़ आधार के बिना भवन की मंजिलों की कल्पना नहीं की जा सकती है। वैसे ही मूल गुणों का स्थिर अभ्यास किए बिना धारणा, ध्यान और समाधि की कल्पना नहीं की जा सकती। इस दृष्टि से साधना के प्रसंग में महाव्रतों का पहला स्थान है।

महाव्रत के पांच प्रकार हैं :

1. अहिंसा, 2. सत्य, 3. अस्तेय, 4. ब्रह्मचर्य, 5. अपरिग्रह। इनमें मुख्य स्थान अहिंसा का है। शेष सब उसी का विस्तार हैं। अहिंसा के दो रूप होते हैं—1. संकल्पकृत अहिंसा, 2. सिद्ध अहिंसा।

साधना के आरंभ में साधक अहिंसा का संकल्प स्वीकार करता है। इसमें मानसिक भूमिका सुपरिपक्व नहीं होती इसलिए बार-बार उतार-चढ़ाव आता रहता है। हिंसा के संस्कार पुनः-पुनः उद्दीप्त होते रहते हैं, किंतु अहिंसा का संकल्प तथा उसकी सिद्धि का लक्ष्य होने के कारण साधक उस स्थिति का अनुभव करता हुआ भी आगे की ओर बढ़ता चला जाता है। वह निराश होकर न पीछे लौटता है और न रुकता है। आंतरिक शुद्धि का अभ्यास करते-करते कषाय क्षीण होता है तब अहिंसा सिद्ध हो जाती है। उस स्थिति में साधक के मन में समता का पूर्ण विकास होता है। उसके मन में फिर शत्रु और मित्र का भेद नहीं रहता। जीवन के प्रति अनुराग और मृत्यु का भय नहीं रहता। हीन और उत्कर्ष की भावना समाप्त हो जाती है। निंदा से ग्लानि और प्रशंसा से उत्फुल्लता नहीं होती। मान और अपमान से उसका मानसिक संतुलन नहीं बिगड़ता। उसमें सहज संयम विकसित होता है। उसमें सब जीवों को आत्मतुल्य समझने की प्रज्ञा प्रकट हो जाती है।

अहिंसा के साथ-साथ व्यक्ति में ऋजुता प्रकट होती है, यही उसका सत्य पक्ष है।

अहिंसा से अपनी मर्यादा का विवेक जागृत होता है, इसलिए अहिंसक व्यक्ति दूसरों के स्वत्व का अपहरण नहीं करता, यही उसका अचौर्य पक्ष है।

अहिंसक व्यक्ति अपने इंद्रिय और मन पर अधिकार स्थापित करता है, यही उसका ब्रह्मचर्य पक्ष है।

अहिंसक व्यक्ति आत्मलीन रहता है। वह बाह्य वस्तुओं में आसक्त नहीं होता, यही उसका अपरिग्रह पक्ष है।

अहिंसा, सत्य और अपरिग्रह का आध्यात्मिक मूल्य असीम होता है।

ब्रह्मचर्य दो भागों में विभक्त है—1. संकल्पसिद्ध ब्रह्मचर्य, 2. सिद्ध ब्रह्मचर्य।

सिद्ध ब्रह्मचर्य की भूमिका तक पहुंचना हमारा लक्ष्य है। शास्त्रों में 'घोरबंभयारी' शब्द आता है। वह एक विशेष प्रकार की लब्धि (योगज शक्ति) है। वह दीर्घकालीन साधना से उपलब्ध होती है। राजवार्तिक के अनुसार जिसका वीर्य स्वप्न में भी स्खलित न हो, वह घोर ब्रह्मचारी है। स्वप्न में भी जिसका मन अणुमात्र विचलित नहीं होता, उसे घोर ब्रह्मचर्य की लब्धि प्राप्त होती है। शुभ संकल्पों और साधना से इस स्तर तक पहुंचा जा सकता है। ब्रह्मचर्य का अर्थ है—मैथुन विरति या सर्वेंद्रियोपरम। असत्य, चोरी आदि का संबंध मुख्यतः मानसिक स्तर पर है। ब्रह्मचर्य दैहिक और मानसिक दोनों स्तरों से संबंधित है, अतः उसकी पालना के लिए शरीरशास्त्रीय ज्ञान भी आवश्यक है। उसके अभाव में ब्रह्मचर्य को समझने में भी कठिनाई होती है।

अब्रह्मचर्य के दो कारण हैं—1. मोह, 2. शारीरिक परिस्थिति।

व्यक्ति जो कुछ खाता है, उसके शरीर में उसी तरह की प्रक्रिया चलती है। उसकी पहली परिणति रस है। वह शोणित आदि धातुओं में परिणत होता हुआ सातवीं भूमिका में वीर्य बनता है। उसके बाद वह ओज के रूप में शरीर में व्याप्त होता है। ओज केवल वीर्य का ही सार नहीं है। वह सब धातुओं का सार है। शरीर में अनेक नाड़ियां हैं। उनमें एक काम-वाहिनी नाड़ी है। उसका स्थान पैर के अंगूठे से लेकर मस्तिष्क के पिछले भाग तक है। काम-वासना को मिटाने के लिए जो आसन किए जाते हैं, उन आसनों से इसी नाड़ी पर नियंत्रण किया जाता है। खाने से वीर्य बनता है। वह रक्त के साथ भी रहता है और वीर्याशय में भी जाता है। वीर्याशय में अधिक वीर्य जाने से अधिक उत्तेजना होती है और काम-वासना भी अधिक जागती है। ब्रह्मचारी के लिए यह एक कठिनाई है कि वह जीते-जी खाना नहीं छोड़ सकता। जो खाता है, उसका रस आदि भी बनता है, वीर्य भी बनता है। वह अंडकोश में जाकर संगृहीत भी होता है और वह वीर्याशय में भी जाता है। योगियों ने इस समस्या पर विचार किया कि इस परिस्थिति को विवशता ही माना जाए या इस पर नियंत्रण पाने का कोई उपाय ढूंढ़ा जाए। उन्होंने स्पष्ट अनुभव किया—वीर्य केवल वीर्याशय में जाएगा तो पीछे से चाप पड़ने से आगे का वीर्य बाहर निकलेगा, फिर दूसरा आएगा और वह भी खाली होगा। खाली होना और भरना—यही क्रम रहेगा तो शरीर के अन्य तत्त्वों को पोषण नहीं मिलेगा। इसलिए उन्होंने वीर्य को मार्गांतरित करने की पद्धति खोज निकाली। मार्गांतरण के लिए ऊर्ध्वाकर्षण की साधना का विकास किया। उनका प्रयत्न रहा कि वीर्य वीर्याशय में कम जाए और ऊपर सहस्रार चक्र में अधिक जाए। इस प्रक्रिया में वे सफल हुए। वीर्य को ऊर्ध्व ले जाने से वे ऊर्ध्वरिता बन गए।

वीर्याशय पर चाप पड़ने का एक कारण आहार है। ब्रह्मचर्य के लिए आहार का विवेक अत्यंत आवश्यक है। अतिमात्र आहार और प्रणीत आहार दोनों वर्जनीय हैं। गरिष्ठ आहार नहीं पचता इसलिए वह कब्ज करता है। मलावरोध होने से कुवासना जागती है और वीर्य का क्षय होता है, इसलिए पेट भारी रहे उतना मत खाओ और प्रणीत आहार मत करो। संतुलित आहार करो, जिससे पेट साफ रहे। खाना जितना आवश्यक है, उससे कहीं अधिक आवश्यक है मलशुद्धि। मल के अवरोध से वायु बनता है। वायु जितना अधिक बनेगा उतना ही अहित होगा। वायु-विकार से पूरी तरह बचो। वीर्य का जब अधिक चाप होता है तब ब्रह्मचर्य के प्रति संदेह उत्पन्न हो जाता है।

उत्तराध्ययन में कहा गया है—बंभचेरे संका वा कंखा वा वितिगिच्छा व समुप्पज्जिज्जा भेयं वा लभेज्जा, उम्मायं वा पाउणिज्जा, दीहकालियं वा रोगायं कं हवेज्जा, केवलिपण्णत्ताओ वा धम्माओ भंसेज्जा।

शंका, कांक्षा और विचिकित्सा उत्पन्न होती है, भेद होता है, उन्माद होता है, दीर्घकालिक रोग और आतंक भी हो जाता है तथा केवलि-प्रज्ञप्त धर्म से भ्रष्ट हो जाता है। ब्रह्मचर्य की साधना के लिए कुछेक साधनों की सूचना दी जाती है। उनका अभ्यास किया जाए तो वह निश्चित परिणाम लाएगा। इनमें पहला साधन वीर्य-स्तंभ प्राणायाम है। इसका दूसरा नाम ऊर्ध्वाकर्षण प्राणायाम भी है। सिद्धासन में बैठकर पूर्ण रूप से रेचन करें। रेचनकाल में चिंतन करें कि मेरा वीर्य रक्त के साथ मिलकर समूचे शरीर में व्याप्त हो रहा है। फिर पूरक करें, जालंधरबंध और मूलबंध करें। पूरक काल में पेट को सिकोड़ें और फुलाएं। सिकोड़ने और फुलाने की क्रिया को पांच-सात पूरकों में सौ बार दोहराएं। दूसरा साधन ध्यान है। तीसरा अल्पकालीन कुंभक है। चौथा साधन प्रतिसंलीनता है।

इंद्रियां चंचल होती हैं, पर वह उनकी स्वतंत्र प्रवृत्ति नहीं है। मन से प्रेरित होकर ही वे चंचल बनती हैं। मन जब स्थिर और शांत होता है, तब वे अपने आप स्थिर और शांत हो जाती हैं। मन अंतर्मुखी बनता है, तब इंद्रियां अंतर्मुखी हो जाती हैं। महर्षि पतंजलि ने इसी आशय से लिखा है—

स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्यस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः।

—पातंजल योगदर्शन—साधनपाद, 54

अपने विषयों के असंप्रयोग में चित्त के स्वरूप का अनुकरण जैसा करना इंद्रियों का प्रत्याहार कहलाता है। प्रत्याहार के स्थान पर जैन आगमों में प्रतिसंलीनता का उल्लेख है। औपपातिक सूत्र में इंद्रिय प्रतिसंलीनता के पांच प्रकार बतलाए गए हैं।

इंद्रिय प्रतिसंलीनता के दो मार्ग हैं—विषय-प्रचार का निरोध और राग-द्वेष का निग्रह। आंखों से न देखें यह विषय-प्रचार का निरोध है। विषय के साथ संबंध स्थापित हो जाए वहां राग-द्वेष न करना—राग-द्वेष-निग्रह है। प्रतिसंलीनता का अर्थ है—अपने आप में लीन होना। इंद्रियां सहजतया बाहर दौड़ती हैं, उन्हें अंतर्मुखी बनाना प्रतिसंलीनता है। उसकी प्रक्रिया यह है—

कोई आकार सामने आए तो उसकी उपेक्षा कर भीतर में देखा जाए, वैसे ही भीतर में सुना जाए, सूंघा जाए, स्वाद

लिया जाए और स्पर्श किया जाए। प्रतिसंलीनता के लिए कुंभक की आवश्यकता होती है। उसकी प्रक्रिया इस प्रकार है—दाएं नथुने से श्वास भरें। कुछ देर रोककर अंतःकुंभक करें। फिर बाएं नथुने से श्वास को बाहर निकाल दें। कुछ देर बाह्य कुंभक करें। इस प्रकार एक बार कुंभक होता है। प्रतिदिन बारह-तेरह बार इसका अभ्यास करना चाहिए।

वीर्य की उत्पत्ति समान वायु से होती है। उसका स्थान नाभि है। इसलिए कुंभक के साथ नाभि पर ध्यान करें। पूरक करते समय संकल्प करें कि वीर्य नाड़ियों द्वारा मस्तिष्क में जा रहा है। संकल्प में ऐसी दृढ़ता लाएं कि अपनी कल्पना के साथ वीर्य ऊपर चढ़ता दिखाई देने लगे। चाप में भी सहस्रार-चक्र पर ध्यान कर संकल्प करें कि नीचे खाली हो रहा है और ऊपर भर रहा है। वीर्य नीचे से ऊपर जा रहा है। ऐसा करने से वीर्य का चाप वीर्याशय पर नहीं पड़ेगा। फलतः उसके चाप से होने वाली मानसिक उत्तेजना से सहज ही बचाव हो जाएगा। इस विषय में यौनशास्त्रियों के अभिमत भी मननीय हैं।

विज्ञानविशारद स्कॉट हाल का मत है—अंड और डिंब ग्रंथियों के अंतःस्राव जब रक्त के साथ मिलकर शरीर के विभिन्न अंगों में प्रवाहित होते हैं तो वे युवक और युवती के सर्वांगीण विकास में जादू की तरह नवजीवन का प्रभाव छोड़ते हैं।

हेलेनाराइट ने इसके लिए बड़ा उपयोगी मार्ग बतलाया है—आत्म-विकास के लिए कोई एक कार्य अपना लेना चाहिए और एकाग्रचित्त से दिन में कई बार यह सोचना चाहिए कि जननेंद्रिय में केंद्रित प्राणशक्ति सारे स्नायुमंडल में प्रवाहित होकर अंग-प्रत्यंग को पुष्ट कर रही है। थोड़े समय में ही इस मानसिक सूचना से तन और मन नए चैतन्य से स्फूर्त एवं प्रफुल्ल हो उठेंगे।

इन साधनों के अतिरिक्त शास्त्रों का अध्ययन, मनन, चिंतन, व्युत्सर्ग आदि साधन भी मन को एकाग्र करने में सहायक होते हैं। ब्रह्मचर्य के लिए केवल मानसिक चिंतन ही पर्याप्त नहीं है, दैहिक प्रश्नों पर भी ध्यान देना आवश्यक है। भोजन-संबंधी विवेक और मल-शुद्धि का ज्ञान भी कम महत्त्व का नहीं है। यदि इनकी उपेक्षा की गई तो मानसिक चिंतन अकेला पड़ जाएगा।

मानसिक पवित्रता, प्रतिभा की सूक्ष्मता, धैर्य और मानसिक विकास की सिद्धि के लिए उक्त साधनों का अभ्यास आवश्यक है।

ब्रह्मचर्य का शरीरशास्त्रीय अध्ययन

शरीरशास्त्र के अनुसार शरीर में आठ ग्रंथियां होती हैं:

1. श्लैष्मिक या पीयूष (पिच्यूटरी), 2. कंठमणि (थाइरायड), 3. वृषण, 4. सर्वकिण्वी (पैनक्रिया), 5. एड्रीनल या सुप्रारीनल, 6. पैराथाइरायड, 7. तृतीय नेत्र (पीनियलबाडी), 8. यौवन लुप्त (थाइमस)।

पीयूष ग्रंथि

यह ग्रंथि दिमाग के नीचे होती है। यह थाइरायड, पैराथाइरायड, एड्रीनल, पैनक्रिया व वृषण कोशों के स्रावों को नियंत्रित करती है। इस ग्रंथि के रसों का कार्य इस प्रकार है—

प्रथम रस का कार्य—शरीर-विकास।

द्वितीय रस का कार्य—शरीर के जल या नमक का संतुलन।

तृतीय रस का कार्य—गुर्दे के कार्य का नियंत्रण।

पीयूष ग्रंथि काम कम करे तो काम-शक्ति नष्ट हो जाती है।

कंठमणि ग्रंथि

यह गर्दन में श्वास नली से जुड़ी हुई होती है। इसका आकार तितली के समान होता है। इसका रसस्राव अधिक होने पर शरीर को अधिक पोषण की जरूरत होती है। क्षुधा बढ़ जाती है, किंतु अन्य अंग साथ नहीं देते, इसलिए वह कमी पूरी नहीं होती। ऐसी स्थिति में दुर्बलता आ जाती है। इस ग्रंथि से रस कम निकले तो बुढ़ापा आ जाता है। सर्दी अधिक लगती है, भूख कम हो जाती है, शिथिलता और उदासी रहती है।

वृषण ग्रंथि

यह पुरुष के ही होती है। यह अंडकोशों में होती है, इसके रसस्राव से पौरुष जागता है और दाढ़ी-मूंछें आती हैं।

पैनक्रिया ग्रंथि

यह दो आंतों के बीच में होती है।

एड्रीनल या सुप्रारीनल ग्रंथि

ये दोनों ग्रंथियां गुर्दे के ऊपरी हिस्से में होती हैं। इनके स्राव शरीर के लिए बहुत आवश्यक होते हैं। इनसे साहस मिलता है। ये स्राव यकृत की चीनी को रक्त के द्वारा मांसपेशियों में ले जाते हैं। वह मांसपेशियों को जूझने की शक्ति देती है।

पैराथाइरायड ग्रंथि

कंठमणि के पास गेहूं के दाने के बराबर चार ग्रंथियां होती हैं। इन्हें पैराथाइरायड कहा जाता है। ये रक्त में

कैल्शियम, फासफोरस आदि का उचित संतुलन बनाए रखती हैं।

तृतीय नेत्र ग्रंथि

यह मस्तिष्क में होती है।

यौवनलुप्त ग्रंथि

यह सीने में होती है।

इनका कार्य अज्ञात है। प्रस्तुत विषय का संबंध वृषण ग्रंथियों से है।

वृषण ग्रंथियां दो स्राव उत्पन्न करती हैं—बहिःस्राव और अंतःस्राव। धमनियों द्वारा वृषण-ग्रंथियों में रस-रक्त आता है। उसे प्राप्त कर दोनों स्रावों के उत्पादक अवयव अपने-अपने स्राव को उत्पन्न करते हैं।

वीर्य अंडकोश में उत्पन्न होता है। उसकी दो धाराएं हैं—एक वीर्याशय, जो मूत्राशय और मलाशय के मध्य में है—में जाती है। दूसरी रक्त में मिलकर शरीर में दीप्ति, मस्तिष्क में शक्ति, उत्साह आदि पैदा करती है। वीर्याशय भरा रहे तो दूसरी धारा रक्त में अधिक जाती है। यह स्थिति शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकार के स्वास्थ्य के लिए बहुत लाभप्रद है। वीर्याशय खाली होता रहे तो वीर्य पहली धारा में इतना चला जाता है कि दूसरी को पर्याप्त रूप से मिल ही नहीं पाता। फलतः दोनों प्रकार से स्वास्थ्य को हानि पहुंचती है। वीर्याशय खाली न हो, इसका ध्यान रखना स्वास्थ्य का प्रथम प्रश्न है।

जीवन के दस स्थान हैं : 1. मूर्धा, 2. कंठ, 3. हृदय, 4. नाभि, 5. गुदा, 6. वस्ति, 7. ओज, 8. शुक्र, 9. शोणित, 10. मांस।

ये दस स्थान दूसरे प्रकार से भी मिलते हैं : 1, 2. दो शंख—पटपड़ियां, 3-5. तीन मर्म—हृदय, वस्ति और सिर, 6. कंठ, 7. रक्त, 8. शुक्र, 9. ओज, 10. गुदा।

ओज इन दोनों प्रकारों में है। वह वीर्य (धातु) का अंतिम सार नहीं किंतु सातों धातुओं (रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा, शुक्र) का अंतिम सार है। उसका केंद्रस्थान हृदय है, फिर भी वह व्यापी है।[1]

> ओजस्तु तेजो धातूनां, शुक्रान्तानां परं स्मृतम्।
> हृदयस्थमपि व्यापि, देहस्थितिनिबन्धनम्।।

इससे दो बातें निष्पन्न होती हैं :

1. ओज का संबंध केवल वीर्य से नहीं है।

2. वीर्य का स्थान अंडकोश है, जबकि ओज का स्थान हृदय है।

आज और वीर्य में तीसरा अंतर यह है कि वीर्य का मध्यम परिमाण ही लाभप्रद होता है। वह हीन मात्रा में हो तो क्षीणता आदि दोष बढ़ते हैं। वह अतिमात्रा में हो तो उससे मैथुन की प्रबल इच्छा और शुक्राश्मरी (शुक्र-जनित पथरी) रोग उत्पन्न होता है।[2]

ओज जितना बढ़े उतना ही लाभप्रद है। उसकी वृद्धि से मन की तुष्टि, शरीर की पुष्टि और बल का उदय होता है।[3]

वीर्य-व्यय के दो मार्ग हैं :

1. जननेंद्रिय, 2. मस्तिष्क

भोगी तथा रोगी व्यक्ति के काम-वासना की उद्दीप्ति तथा वायुविकार आदि शारीरिक रोग होने पर वीर्य का व्यय जननेंद्रिय से होता है।

योगी लोग वीर्य का प्रवाह ऊपर की ओर मोड़ देते हैं। अतः उनके वीर्य का व्यय मस्तिष्क में होता है। वीर्य का प्रवाह नीचे की ओर अधिक होने से काम-वासना बढ़ती है और उसका प्रवाह ऊपर की ओर होने से काम-वासना घटती है।

काम-वासना के कारण, जननेंद्रिय द्वारा जो वीर्य व्यय होता है, वह अब्रह्मचर्य का ही एक प्रकार है। मन में मोह और संस्कारों में अशुद्धि उत्पन्न होती है, इसे आध्यात्मिक दृष्टि से हानि ही कहा जाएगा। वह सीमित होता है तो उसका शरीर पर अधिक हानिकर प्रभाव नहीं होता।

जो आदमी अब्रह्मचर्य में अति आसक्त होता है, उसकी वृषणग्रंथियों में आने वाले रस-रक्त का उपयोग बहिःस्राव उत्पन्न करने वाले अवयव कर लेते हैं। इसका फल यह होता है कि अंतःस्राव उत्पन्न करने वाले अवयव उचित सामग्री के अभाव में अपना काम करने में अक्षम रह जाते हैं। फलतः सर्व धातुओं और सर्वांग पर होने वाले अंतःस्राव के महत्त्वपूर्ण प्रभावों से वह वंचित रह जाता है और अनेक प्रकार के विकार उसके शरीर में उत्पन्न होते हैं।

आयुर्वेद के ग्रंथों में इस विषय को एक उदाहरण के द्वारा समझाया गया है। सात क्यारियों में से सातवीं क्यारी में बड़ा गर्त हो या उसमें से जल निकलने के लिए छेद हो तो सीधी-सी बात है कि पहले संपूर्ण जल उस गढ़े में भरने लगेगा या उस क्यारी को पूर्ण करने में व्यय होगा। यही स्थिति अति मैथुन आदि के कारण होने वाले शुक्र क्षय में होती है। निश्चित ही संपूर्ण रस प्रथम शुक्र धातु की पुष्टि में लगता है, किंतु अति मैथुनवश शुक्र पुष्ट हो ही नहीं पाता। परिणामतया अन्य धातुओं की पुष्टि रस से हो नहीं पाती और शरीर में विभिन्न विकार उत्पन्न हो जाते हैं।

ब्रह्मचर्य से इंद्रिय-विजय और इंद्रिय-विजय से ब्रह्मचर्य सिद्ध होता है। वस्तुतः इंद्रिय-विजय और ब्रह्मचर्य दो नहीं हैं। ब्रह्मचर्य की इंद्रिय-विजय से एकात्मकता है, इसलिए उससे शरीर की स्थिरता, मन की स्थिरता और अनुद्विग्नता, अदम्य उत्साह, प्रबल सहिष्णुता, धैर्य आदि अनेक गुण विकसित होते हैं।

ब्रह्मचर्य से हमारे स्थूल अवयव उतने प्रभावित नहीं होते, जितने सूक्ष्म अवयव होते हैं।

कुछ लोगों का मत है कि पूर्ण ब्रह्मचर्य का शरीर और मन पर अनुकूल प्रभाव नहीं होता। इस मत में सचाई का अंश भी है, पर उसी स्थिति में जब ब्रह्मचर्य का पालन केवल विवशता की परिस्थिति में हो। चिंतन के प्रवाह को काम-वासना की लहरों से मोड़कर अन्य उदात्त भावनाओं की ओर ले जाया जाए तो ब्रह्मचर्य स्ववशता की परिस्थिति में विकास पाता है। वह शरीर और मन की सूक्ष्मतम स्थितियों पर बड़ा लाभदाई प्रभाव डालता है।

बहुत-सारे लोग ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहते हैं, फिर भी नहीं कर पाते। ऐसा क्यों होता है? अब्रह्मचर्य की भावना सहज ही क्यों उभर आती है? इस प्रश्न का उत्तर कर्मशास्त्रीय भाषा में यह है कि यह सब मोह के कारण होता है, पर शरीरशास्त्र की भाषा में कर्म का स्थान नहीं है। उसके अनुसार काम-वाहिनी नाड़ियों में रक्त का संचरण होने से अब्रह्मचर्य की भावना उभरती है। उसका संचरण नहीं होता तो वह भावना नहीं उभरती। संचरण कम होने से वह भावना कम उभरती है और संचरण अधिक होने से वह भावना अधिक उभरती है। इस संदर्भ में हम उस तथ्य की ओर संकेत कर सकते हैं कि ब्रह्मचारी के लिए गरिष्ठ या दर्पक आहार का निषेध क्यों किया गया?

अब्रह्मचर्य एक आवेग है। हर आवेग पर मनुष्य अपनी नियंत्रण-शक्ति से विजय पाता है। मन की नियंत्रण-शक्ति का विकास ब्रह्मचर्य का प्रमुख उपाय है। पर यह प्रथम उपाय नहीं है। प्रथम है ब्रह्मचर्य के प्रति गाढ़ श्रद्धा होना। दूसरा है वीर्य या रक्त के प्रवाह को मोड़ने की साधना। इसमें ब्रह्मचर्य जितना सहज हो सकता है, उतना नियंत्रण-शक्ति से नहीं।

काम-वासना मस्तिष्क के पिछले भाग में प्रारंभ होती है, इसलिए जैसे ही वह उभरे, वैसे ही उस स्थान में मन को एकाग्र कर कोई शुभ-संकल्प किया जाए, जिससे वह उभार शांत हो जाए।

पेट में मल, मूत्र और वायु का दबाव बढ़ने से काम-वाहिनी नाड़ियां उत्तेजित होती हैं। खान-पान और मलशुद्धि में सजग रहना बह्मचर्य की बहुत बड़ी शर्त है। वायु-विकार न बढ़े, इस ओर ध्यान देना भी बहुत आवश्यक है।

काम-जनक अवयवों के स्पर्श से भी वासना बहुत अपेक्षित है। इन सारी बातों का ब्रह्मचर्य के परिपार्श्व में बहुत महत्त्व है, पर इन सबसे जिसका अधिक महत्त्व है, वह है वीर्य या रक्त-प्रवाह को मोड़ने की प्रक्रिया। उसकी कुछ विधियां इस प्रकार हैं :

ऊर्ध्वाकर्षण

(क) सिद्धासन में बैठिए। श्वास का रेचन कीजिए—बाहर निकालिए। बाह्य कुंभक कीजिए—श्वास को बाहर रोके हुए रहिए। इन स्थिति में संकल्प कीजिए कि वीर्य रक्त के साथ मिलकर समूचे शरीर में घूम रहा है। वीर्य का प्रवाह ऊपर की ओर हो रहा है।

संकल्प इतनी तन्मयता से कीजिए कि वैसा प्रत्यक्ष अनुभव होने लगे। जितनी देर सुविधा से कर सकें, यह संकल्प कीजिए। फिर पूरक कीजिए—श्वास को अंदर भरिए। पूरक की स्थिति में मूलबंध कीजिए—गुदा को ऊपर की ओर खींचिए तथा जालंधर बंध कीजिए—ठुड्डी को तानकर कंठकूप में लगाइए। फिर पेट को सिकोड़िए और फुलाइए। आराम से जितनी बार ऐसा कर सकें कीजिए, फिर रेचन कीजिए। यह एक क्रिया हुई। इसे अभ्यास बढ़ाते-बढ़ाते सात या नौ बार दोहराइए।

(ख) पीठ के बल चित्त लेट जाइए। सिर, गर्दन और छाती को सीध में रखिए। शरीर को बिल्कुल शिथिल कीजिए। मुंह को बंद कर पूरक कीजिए। पूरक करते समय यह संकल्प कीजिए कि काम-शक्ति का प्रवाह जननेंद्रिय से मुड़कर मस्तिष्क की ओर जा रहा है। मानसिक चक्षु से यह देखिए कि वीर्य रक्त के साथ ऊपर जा रहा है। काम-वाहिनी (जननेंद्रिय के आस-पास की) नाड़ियां हलकी हो रही हैं और मस्तिष्क की नाड़ियां भारी हो रही हैं।

पूरक के बाद अंतःकुंभक कीजिए—श्वास को सुखपूर्वक अंदर रोके रहिए। फिर धीमे-धीमे रेचन कीजिए।

पूरक और रेचन का समय समान और कुंभक का समय उससे आधा होना चाहिए। यह क्रिया बढ़ाते-बढ़ाते पंद्रह-बीस बार तक करनी चाहिए। वीर्य के ऊर्ध्वारोहण का संकल्प जितना दृढ़ और स्पष्ट होगा, उतनी ही काम-वासना कम होती जाएगी। ❖

संदर्भ

1. सुश्रुत 11/37
2. सुश्रुत 11/12 : अतिस्त्रीकामतां वृद्धं, शुक्रं शुक्राश्मरीमपि।
3. सुश्रुत 12/41 : ओजे वृद्धौ हि देहस्य, तुष्टिपुष्टिबलोदयः।

❖❖

पांच महाव्रत—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह के रूप में गिनाए गए हैं, वे गहरी दृष्टि से देखने पर अलग-अलग पांच महाव्रत नहीं हैं, बल्कि एक ही मूल महाव्रत अर्थात् अहिंसा के पांच आयाम हैं, तो वह कथन सत्य प्रतीत होता है। सत्य का पालन यदि न हो और झूठ का प्रयोग हो तो यह हमारे अंतःकरण की हिंसा है। अस्तेय का पालन नहीं करके यदि हम चोरी करें तो यह दूसरे के अधिकार की हिंसा है, यदि हम दूसरे प्राणी या पंचमहाभूतों के प्रति हिंसक हों तो यह ब्रह्मतत्त्व की हिंसा है क्योंकि सभी प्राणियों एवं पंचमहाभूतों में ब्रह्म ही व्याप्त है और यदि हम अपरिग्रह को त्याग कर परिग्रही बनते हैं तो यह दूसरों की आवश्यकताओं के लिए बाधा डालने के रूप में हिंसा ही है।

अहिंसा में है पंच-महाव्रत

⊙ दयालचन्द्र सोनी

धर्म के पालन हेतु जो पांच महाव्रत महत्त्वपूर्ण माने गए हैं, वे हैं—(1) अहिंसा, (2) सत्य, (3) अस्तेय, (4) ब्रह्मचर्य और (5) अपरिग्रह। इन पांच महाव्रतों में भी जो सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण व्रत माना गया है, वह है अहिंसा। कहा गया है कि 'अहिंसा परमो धर्मः'।

इस संदर्भ में मैं जब अपनी अल्पमति अनुसार विनयपूर्वक विचार करता हूं तब मुझे ऐसा लगता है कि यद्यपि सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह को अहिंसा से अलग गिनाया गया है, पर वास्तविकता यह है कि सत्य में भी, अस्तेय में भी, ब्रह्मचर्य में भी तथा अपरिग्रह में भी मूलतः तो अहिंसा ही भरी हुई है अथवा अहिंसा ही व्याप्त है। बल्कि हम यों मान सकते हैं कि सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह अहिंसा से पृथक नहीं है बल्कि अहिंसा के ही अंग हैं अथवा आयाम हैं। हां, इतना हम अवश्य मान सकते हैं कि अहिंसा शब्द से यदि स्थूल हिंसा का निषेध अभिव्यक्त होता हो, तो सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह शब्दों से सूक्ष्म हिंसा का भी निषेध हो जाता है।

अब अपने विचार में जब मैं आगे बढ़ता हूं तो सत्य, अस्तेय एवं अपरिग्रह में तो अहिंसा के दर्शन मुझे आसानी से हो जाते हैं, पर ब्रह्मचर्य का वास्तविक अर्थ या स्वरूप क्या है तथा उसमें अहिंसा किस तरह से व्याप्त है, इस बात को समझना काफी मुश्किल हो जाता है। अतः आगे बढ़ने से पूर्व मैं कुछ विचार-विमर्श ब्रह्मचर्य के शब्दार्थ एवं निहितार्थ पर भी करना चाहता हूं।

'ब्रह्मचर्य' के शब्दार्थ पर यदि विचार किया जाए तो ब्रह्म में जो विचरण करता हो, उसे हम ब्रह्मचारी कहेंगे। नभचर वह पक्षी होता है जो आकाश में विचरण करता है, जलचर वह प्राणी है जो जल में विचरण करे (अर्थात् मगर, मछली इत्यादि) और थलचर हम मानव एवं दूसरे चतुष्पद प्राणी हैं जो पृथ्वी पर स्थल भाग में विचरण करते हैं। तो शब्द के मूलार्थ की दृष्टि से ब्रह्मचर्य का अर्थ होगा 'ब्रह्म में विचरण करना' और ब्रह्मचारी का अर्थ होगा 'ब्रह्म में विचरण करने वाला।'

पर आम तौर पर ब्रह्मचर्य का जो निहितार्थ हमारे पूरे समाज में चल रहा है, वह है विवाह एवं दाम्पत्य क्रिया से बचना अथवा स्त्री-पुरुष के पारस्परिक संभोग का अभाव। समाज में ब्रह्मचर्य का जो एक यही निहितार्थ प्रचलित है—क्या वह सही है, यह प्रश्न विचारणीय है। ब्रह्म तो वह परम अथवा चरम अद्वैत सत्ता है जिससे सारी सृष्टि उत्पन्न हुई है और प्रलय होने पर जिसमें सारी सृष्टि पुनः समा जाएगी। इस ब्रह्म की स्थिति को प्राप्त करना तो बड़ी भारी साधना का विषय है। बड़े-बड़े ऋषि-मुनि दीर्घ काल तक तप साधना करके उस स्थिति को प्राप्त करते होंगे। तो यही ब्रह्मचर्य क्या इतना सरल एवं साधारण हो सकता है कि स्त्री एवं पुरुष आपसी संभोग से विरत हो जाने से या बचने से ही ब्रह्म में विचरण करने वाले (अर्थात् ब्रह्मचारी) बन जाएं? दो देशों के बीच युद्ध होने पर बहुत बड़ी संख्या में पुरुष सैनिक मारे जाते हैं और तब उन देशों में महिलाएं ज्यादा संख्या में और पुरुष कम संख्या में हो जाते हैं और तब अनेक महिलाएं ऐसी होती हैं जिनका विवाह नहीं हो पाता अथवा जिनको तलाक दे दिया जाता है जिससे ये महिलाएं बहुत दुखी-दुखी रहती हैं। तो क्या केवल संभोगवंचित होने मात्र से ये महिलाएं ब्रह्मचारिणी हो जा सकती हैं? कई बार पुरुषों को भी विशेष कारणों से अपने घरों से दीर्घ काल तक दूर तथा

अलग रहना पड़ता है जिससे वे दाम्पत्य के संभोग सुख से वंचित रहते हैं। तो क्या हम मान लें कि ऐसे पुरुष ऐसी अवधि में ब्रह्म में विचरण करने वाले ब्रह्मचारी बन जाते हैं? मेरे खयाल से जो लोग यौन क्रिया से या तो मजबूरन वंचित हैं या स्वनिर्णय से उससे विरत हैं, उन्हें केवल इतने-से कारण के आधार पर ही ब्रह्मचारी मान लेना ठीक नहीं है। ऐसा करना ब्रह्मचर्य शब्द का अवमूल्यन करने के समान होगा।

इस विषय में आगे विचार करने पर मुझे ऐसा लगता है कि गीता में जो एक शब्द 'ब्राह्मीस्थिति' वाला आया है, इस ब्रह्मचर्य शब्द को भी हमें उसी के समकक्ष मानना चाहिए। गीता के दूसरे अध्याय के अंत में भगवान कृष्ण ने 'स्थितप्रज्ञता' के जो लक्षण बताए हैं उन्हीं को उन्होंने स्थितप्रज्ञता के साथ-साथ 'ब्राह्मीस्थिति' का नाम भी दिया है। स्थितप्रज्ञता एवं ब्राह्मीस्थिति जिस व्यक्ति की होती है उस व्यक्ति की इंद्रियों एवं इंद्रिय-भोग के विषयों में जो संबंध होता है, उसका वर्णन गीता में इस प्रकार किया गया है।

प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान्
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते।। (2-55)

अर्थात्—'जब (कोई व्यक्ति) समस्त मनोगत लालसाओं या इच्छाओं को त्याग देता है और अपने भीतर ही अपने द्वारा तुष्ट अथवा तृप्त रहता है तब वह स्थितप्रज्ञ कहा जाता है।'

इसी संदर्भ में यह भी कहा गया है कि—

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति।।(2-64)।।

अर्थात्—'जो इंद्रियां रागद्वेष से मुक्त हैं तथा अपने ही निग्रह अथवा नियंत्रण में हैं उनसे विषयभोग करते हुए (भी) ऐसा व्यक्ति जो कि (सत् एवं असत् के बीच विवेक करके) सही कार्य ही करता है, सहज प्रसन्नता को प्राप्त करता है।'

इसके अतिरिक्त एक और श्लोक जो ध्यान देने योग्य है, निम्नानुसार है—

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसास्मरन्।
इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते।।3-6।।

अर्थात्—'जो व्यक्ति कर्मेंद्रियों को तो संयमित कर लेता है, परंतु अपने मन से इंद्रियभोग के विषयों का चिंतन करता रहता है, वह व्यक्ति मिथ्याचारी है।'

तो गीता के ये तीन श्लोक ब्रह्मचर्य अथवा ब्राह्मीस्थिति को समझने में हमारी बहुत मदद कर सकते हैं। सबसे पहली बात यह है कि हमें अपने मन को ही कामनाओं, वासनाओं अथवा इच्छाओं से मुक्त करना है। यह मन जब तरह-तरह के अभावों की भावना से मुक्त होगा और अपने भीतर अपने ही से तुष्ट यानी तृप्त रहेगा, तब हमें स्थितप्रज्ञता अथवा ब्राह्मीस्थिति अथवा ब्रह्मचर्य प्राप्त होगा। मूल बात, अपने मन को तरह-तरह की कामनाओं, इच्छाओं, लालसाओं, वासनाओं एवं अभाव की भावनाओं से मुक्त करके अपने मन की तुष्टि या तृप्ति अपने भीतर से ही, अपने अंतःकरण से ही प्राप्त करनी है। यानी हमें सुख या प्रसन्नता की दृष्टि से स्वतः अपने भीतर ही स्वावलंबी होना है। मुझे तो अमुक प्राप्ति होने पर ही तुष्टि या तृप्ति मिलेगी, ऐसी स्थिति से मुक्त होना आवश्यक है।

अब जो व्यक्ति मनोगत कामनाओं या अभाव भावनाओं से तो मुक्त है और संयोगवश मान लो यदि अपनी राग-द्वेष से मुक्त एवं स्वनियंत्रित इंद्रियों द्वारा विषयों में रमण कर भी लेता है तो उससे भी उसे सहजानंद या सहज प्रसन्नता ही प्राप्त होती है। पर इसके विपरीत यदि कोई व्यक्ति अपनी कर्मेंद्रियों को तो येन-केन प्रकार से रोक करके रखता है, परंतु मन से चिंतन एवं मनन विषयभोग ही का करता रहता है तो ऐसा व्यक्ति स्थितप्रज्ञ अथवा ब्राह्मीस्थिति वाला या ब्रह्मचारी नहीं है बल्कि मिथ्याचारी है। इस प्रकार हम यह बात समझ सकते हैं कि ब्रह्मचर्य का यही तात्पर्य नहीं है कि हम अपने शरीर से कामोपभोग नहीं करें। स्थितप्रज्ञता, ब्राह्मीस्थिति एवं ब्रह्मचर्य मूलतः हमारी मानसिक आत्मतुष्टि एवं आत्मानंद में मगन रहने की बात है न कि बाहर से शरीर मात्र को कामोपभोग से बचाने का नाम स्थितप्रज्ञता, ब्राह्मीस्थिति या ब्रह्मचर्य है।

ब्रह्मचर्य का दूसरा लक्षण जो गीता में उल्लिखित है वह 'यज्ञचर्या' का है। गीता के तीसरे अध्याय में कहा गया है कि प्रजापति ने प्रजा को यज्ञ क्रिया के साथ में पैदा किया। यज्ञ को सामान्यतया हम हवन के अर्थ में लेते हैं। पर हवन तो यज्ञ का एक प्रतीक मात्र है। मूल यज्ञ तो पूरी प्रकृति में 'क्षरण-भरण के आवर्तनचक्र' में समाया हुआ है। तो मनुष्य जो कुछ भी प्रकृति या समाज से या गुरु या माता-पिता से प्राप्त करता है, उसके बदले में अपनी सेवा देने का नाम यज्ञ है। यदि हम प्रकृति, समाज, परिवार तथा गुरुकुल से केवल प्राप्ति का ही अभ्यास करते हैं और प्राप्ति के बदले में अपनी तरफ से सेवा देने से बचते हैं तो हम चोर हैं और इसलिए हम साहूकारी या ब्रह्मचर्य का पालन नहीं कर रहे हैं। इस विषय में गीता का वचन है—

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
तस्मात् सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्।।3-15।।

अर्थात्—'कर्म की उत्पत्ति ब्रह्म से हुई है और ब्रह्म की उत्पत्ति अक्षर सत्ता से हुई है। इसलिए सर्वव्यापी ब्रह्म सदा ही यज्ञ में प्रतिष्ठित है।'

इस दृष्टि से देखने पर ब्रह्मचर्य केवल इंद्रिय निग्रह ही नहीं है बल्कि प्राप्त उपकार के बदले में सेवा करके उऋण होने के अभ्यास में भी ब्रह्मचर्य है जिसे हम ब्रह्मचर्य के साथ-साथ 'यज्ञचर्या' का नाम भी दे सकते हैं।

ब्रह्मचर्य का एक और तत्त्व हमें गीता के अट्ठारहवें अध्याय के चौवनवें श्लोक में मिलता है जिसमें कहा गया है—

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्।।18-54।।

'जो व्यक्ति ब्रह्म को आत्मसात् कर लेता है वह प्रसन्नात्मा होकर न तो शोकमग्न होता है और न इच्छाओं से पीड़ित होता है। वह व्यक्ति समस्त प्राणियों में समदृष्टि रखता है और इस प्रकार मेरी पराभक्ति को प्राप्त हो जाता है।'

अब इस श्लोक की पहली पंक्ति में तो वही बात दुहराई गई है जो पूर्वमेव उद्धृत दूसरे अध्याय के चौसठवें श्लोक में कही जा चुकी है कि रागद्वेषवियुक्त तथा आत्म-निग्रहीत इंद्रियों से यदि विषयाचार भी हो तो मनुष्य 'प्रसाद' गुण (अर्थात् सहज आत्मानंद) को प्राप्त करता है। पर इस अठारहवें अध्याय के चौवनवें श्लोक में यह भी कहा गया है कि जो ब्रह्मभूत प्रसन्नात्मा है वह सृष्टि के समस्त प्राणियों के प्रति समदृष्टि रखता है जिससे उसे परमेश्वर की पराभक्ति की प्राप्ति होती है। तो ईश्वर की ऐसी सहज पराभक्ति का प्रसाद भी ब्रह्मचारी को मिलता है।

इस प्रकार गीता की मदद से हमें ब्रह्मचर्य के एक व्यापक स्वरूप का बोध होता है। सर्वप्रथम तो ब्रह्मचर्य द्वारा स्थाई तथा सहज आंतरिक आनंद की प्राप्ति की साधना की जाती है जिसकी उपलब्धि होने से इंद्रियजन्य अस्थाई सुख की लालसा स्वतः घट जाती है या धीरे-धीरे लुप्त भी हो सकती है। इसके बाद ब्रह्मचर्य की दूसरी बात यह है कि एक ब्रह्मचारी व्यक्ति जहां से भी तथा जो भी वस्तु या सहायता प्राप्त करता है उसके बदले वह अपनी सेवाएं या मदद देकर अपने पर चढ़े हुए उपकार का ऋण उतारने का प्रयत्न करता रहता है और अंत में उसकी तीसरी विशेषता यह है कि वह सृष्टि के समस्त प्राणियों के प्रति समतुल्यता की भावना रखता है कि जिसमें ईश्वर की सर्वोच्च भक्ति स्वतः निहित है। इस प्रकार ब्रह्मचर्य का जो एक अति सीमित एवं संकीर्ण अर्थ लेकर हम चला करते हैं उससे बाहर निकल कर हमें ब्रह्मचर्य को उसके उपर्युक्त व्यापक तथा त्रिआयामी रूप में देखना चाहिए। ये तीन आयाम हैं—(1) अस्थाई इंद्रियसुखों के बजाय स्थाई एवं सहज आत्मानंद की साधना, (2) जो कुछ भी प्राप्त किया जाए उसके बदले सेवा द्वारा उऋण होने की साधना और (3) समस्त प्राणियों में समतुल्य दृष्टि। प्राचीन काल में विद्यार्थी जीवन को ब्रह्मचर्य आश्रम का नाम शायद इसीलिए दिया गया था कि अपने विद्यार्थी जीवन में बालक या नवयुवक ब्रह्मचर्य के ऊपरलिखित तीनों अंगों या आयामों का अभ्यास करता था। उस पुरातन युग में शिक्षा का मूल स्वरूप भी यही था।

अब जबकि हम ब्रह्मचर्य को इस व्यापक त्रिआयामी रूप में देखते हैं तो यह ब्रह्मचर्यव्रत ही पूरी अहिंसा की जड़ के रूप में उभरता है। ब्रह्मचर्य का जो तीसरा आयाम 'समस्त प्राणियों में समतुल्य दृष्टि' का है, यदि उस आयाम का बोध नहीं हो तो 'अहिंसा' का विचार उत्पन्न ही नहीं हो सकेगा। 'अहिंसा आखिर क्यों होनी चाहिए?' इस प्रश्न का जवाब इसके सिवाय क्या हो सकता है कि 'अहिंसा इसलिए होनी चाहिए कि सभी प्राणियों में एक ही परब्रह्म परमेश्वर समान रूप से व्याप्त है और इसलिए उस परब्रह्म की श्रेष्ठतम भक्ति यही है कि सभी प्राणियों के प्रति आत्मवत् प्रेम रखा जाए अर्थात् उनके प्रति अहिंसा का बर्ताव किया जाए।'

इस समतुल्य दृष्टि को (जो कि अहिंसा की जड़ अथवा जननी मानी जा सकती है) गीता में जगह-जगह तथा बार-बार बहुत महत्त्व दिया गया है। गीता के छठे अध्याय के बत्तीसवें श्लोक में कहा गया है—

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः।।6-32।।

अर्थात्—'हे अर्जुन, योगी तो वही सर्वश्रेष्ठ माना जाता है जो चाहे तो दुख में चाहे सुख में सर्वत्र ऐसी दृष्टि रखता हो मानो दूसरा व्यक्ति जो भी सुख या दुख भोग रहा है, वह कोई दूसरा नहीं, बल्कि वह स्वयं ही भोग रहा है।'

ऊपर उद्धृत अट्ठारहवें अध्याय के चौवनवें श्लोक में जो 'समः सर्वेषु भूतेषु' का लक्षण ब्रह्मभूत योगी का बताया गया था, उसी को छठे अध्याय का यह उपर्युक्त बत्तीसवां श्लोक 'आत्मौपम्य' शब्द से और अधिक स्पष्ट कर देता है। इस 'आत्मौपम्य' शब्द के प्रयोग से अहिंसा के मौलिक स्वरूप एवं औचित्य को और अधिक स्पष्टता मिल जाती है। इसके साथ ही एक बात और भी ध्यान देने योग्य यह है कि जहां पूर्वोद्धृत श्लोक (18-54) 'सर्वभूतेषु' (अर्थात् सब प्राणियों

में) समदृष्टि की बात बताता है वहां यह बाद का (6-32) श्लोक 'सर्वत्र' समदृष्टि रखने की बात कहता है। तो यहां हमें 'सर्वभूतेषु' एवं 'सर्वत्र' का अर्थभेद भी समझना चाहिए।

आज के युग में मानवजाति केवल प्राणियों के प्रति ही हिंसक नहीं हो रही है बल्कि वनस्पति एवं पृथ्वी, जल, आकाश एवं हवा के प्रति भी हिंसक हो रही है। अतः आज की अहिंसा को केवल जीवदया तक सीमित नहीं रहना है बल्कि पृथ्वी, जल, आकाश एवं हवा तथा वनस्पति के प्रति भी हमें अहिंसक होना है। इसलिए 'सब प्राणियों' तक ही सीमित अहिंसा के पालन के बजाय अब हमें 'सर्वत्र' अहिंसा के व्यापक पालन पर ध्यान देना होगा।

इस लेख के प्रारंभ में ऐसा कहा गया था कि धर्मपालन के जो पांच महाव्रत—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह के रूप में गिनाए गए हैं, वे गहरी दृष्टि से देखने पर अलग-अलग पांच महाव्रत नहीं हैं, बल्कि एक ही मूल महाव्रत अर्थात् अहिंसा के पांच आयाम हैं, तो वह कथन सत्य प्रतीत होता है। सत्य का पालन यदि न हो और झूठ का प्रयोग हो तो यह हमारे अंतःकरण की हिंसा है। अस्तेय का पालन नहीं करके यदि हम चोरी करें तो यह दूसरे के अधिकार की हिंसा है, यदि हम दूसरे प्राणी या पंचमहाभूतों के प्रति हिंसक हों तो यह ब्रह्मतत्त्व की हिंसा है क्योंकि सभी प्राणियों एवं पंचमहाभूतों में ब्रह्म ही व्याप्त है और यदि हम अपरिग्रह को त्याग कर परिग्रही बनते हैं तो यह दूसरों की आवश्यकताओं के लिए बाधा डालने के रूप में हिंसा ही है।

इस प्रकार यद्यपि धर्म के महाव्रत पांच अलग-अलग गिनाए गए हैं, तथापि मूलतः मानवधर्म अहिंसा में ही समाविष्ट है और ये पंच महाव्रत अहिंसा के ही स्थूल एवं सूक्ष्म रूपों की सम्यक् एवं समग्र व्याख्या करते हैं। ❖

एक निर्धन व्यक्ति अपनी निर्धनता की उधेड़-बुन में चला जा रहा था। तालाब के किनारे एक चमकदार पत्थर को देख मन ललचाया। उसे उठा अपनी अंटी में दबा लिया। वह चिंतामणि रत्न था। उसका भाग्य निखर उठा। वह जो सोचता, जिसकी इच्छा करता, सभी उस मणि के प्रभाव से प्रस्तुत हो जाते। देखते-देखते जंगल में एक अट्टालिका, शैया आदि तैयार हो गए। पथ की थकावट ने उसे सोने के लिए विवश किया। वह कोमल शैया पर लेट गया। नींद का प्रथम दौर प्रारंभ होने वाला ही था कि एक कौआ कांव-कांव करते उसकी खिड़की पर आ बैठा। उसने उसे उड़ाना चाहा। परंतु सब व्यर्थ रहा। विवश हो उसने अपनी अंटी से पत्थर निकाला और कौए की ओर फेंक दिया। कौआ उड़ गया। परंतु उसके साथ-साथ उसका भाग्य भी उड़ गया—नष्ट हो गया। वह मूल अवस्था में आ गया।

हम उस व्यक्ति की मनोव्यथा के जाल में न फंसें—परंतु हम निश्चिंतता से यह सोचें कि क्या आज का मनुष्य अपने प्राप्त वरदान को भौतिक अभिलाषाओं की तृप्ति में खाक नहीं कर रहा है?

—मुनि दुलहराज

सही और विधेयात्मक चिंतन से व्यक्ति का आस्था-बल विकसित होता है। यह आत्म-विकास का आदि बिंदु है। जीवन के केंद्र में आत्मा की प्रतिष्ठा ही साधना है। जो जितना आत्मकेंद्रित होता है वह उतना ही महान साधक होता है। आत्म-प्रतिष्ठित होना साधक का प्रथम गुण है। परदोष-दर्शन साधक के लिए अवांछनीय है। जो दूसरों को देखने में ही अपनी सारी शक्ति खपाता है, वह निरा मूर्ख है। स्वयं को देखना ही आत्मोपलब्धि का मार्ग है। जिसके पास स्वयं को देखने के लिए अवकाश नहीं है, वह आत्म-साधना से बहुत दूर है।

साधना का मूल्य

⊙ मुनि मदनकुमार

'साधना' अध्यात्म-जगत का लोकप्रिय शब्द है। आत्मानुशासन के विकास में साधना की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। साधना ही सिद्धि का सोपान है। अध्यात्म के क्षेत्र में साधना शब्द की विशेष मूल्यवत्ता है। साधना के द्वारा हमारी समस्त प्रवृत्तियों का नियमन होता है। चैतसिक अशुद्धि को मिटाने के लिए साधना का आलंबन जरूरी है। साधना से अकुशल प्रवृत्ति का निरोध और कुशल प्रवृत्ति का प्रवर्तन होता है।

आत्म-रक्षण करने वाली क्रिया अथवा आत्मा के साथ संश्लिष्ट कर्म-मल को धुनने वाली सत्प्रवृत्ति साधना है। चेतना और व्यवहार का परिष्कार करने के लिए इंद्रिय-निग्रह की साधना का आलंबन अध्यात्म को अभीष्ट है। साधना से हमारा आत्म-हित सधता है। निस्संदेह साधना चित्त-शुद्धि का महान उपक्रम है।

आपातभद्र और परिणामविरस प्रवृत्ति साधना नहीं है। जो प्रवृत्ति प्रयोगकाल और परिणामकाल में सुखद होती है, वही साधना की श्रेणी में समाविष्ट है। साधना व्यक्ति की मानसिक, वाचिक और कायिक प्रवृत्ति को सम्यक् बनाती है। सम्यक् प्रवृत्ति शुभ योग है तथा वीतराग की आज्ञांतर्गत है। जहां एकांत शुभ योग है वह जीवन साधनामय है। साधना के द्वार को संपूर्णतः अनावृत कर लेना साधु जीवन का उद्देश्य है। मन-वचन-काया की प्रवृत्ति को संपूर्णतया अनुशासित करना साधनामय जीवन का ध्येय है। साधना सिद्धिदायक है, इसलिए वह आत्म-साधक के लिए अपरिहार्य है। अपवर्ग-प्राप्ति के लिए विभाव और विजातीय तत्त्व का वियोग जरूरी है। नए कर्म-मल के आगमन को रोकने तथा पुराने कर्म-मल को समाप्त करने के लिए साधना का अवलंबन अनिवार्य है। यह आत्मशोधन की प्रक्रिया है। साधु-जीवन में यह प्रक्रिया तीव्र गति से संचालित और संपादित होती है। गृहस्थ का जीवन साधना के लिए उपयुक्त पृष्ठभूमि नहीं है, क्योंकि उसे अनेक सामाजिक और पारिवारिक कर्तव्यों का निर्वहन करना पड़ता है। उसे धनोपार्जन के लिए उद्यम करना होता है। अपने स्वाभिमान की सुरक्षा और प्रतिष्ठा के लिए भी सतत प्रयत्नशील रहना होता है, इसलिए उसके जीवन में एकांत धर्मोपासना संभव नहीं है। साधु-जीवन का ध्येय एकमात्र आत्मोत्कर्ष या आत्म-साधना है। साधु-जीवन सुगम है, उसमें यात्रायित होने के लिए संकल्प-बल और लक्ष्य की प्रतिबद्धता ही पर्याप्त है। आगम द्वारा निर्दिष्ट भिक्षा-वृत्ति से उसे जीविका सहजतया उपलब्ध हो जाती है। उसे सब कुछ याचना से प्राप्त हो जाता है। अप्राप्ति की स्थिति में वह अपने समता भाव को वृद्धिंगत कर उसे समभाव से सह लेता है। वह अपने धृति-बल को बढ़ाकर अभाव को भी कष्टकर प्रतीत होने नहीं देता। अभाव, अपमान और आक्रोश की स्थिति आत्म-साधक को दुखी नहीं बनाती है। ये प्रतिकूल स्थितियां उत्पन्न होती ही रहती हैं। जो इनसे आहत नहीं होता है, दुख का संवेदन नहीं करता है, वह आत्म-गवेषक की अर्हता को उपलब्ध कर लेता है। आत्म-साक्षात्कार जीवन की अभिनव उपलब्धि है। जो आत्मा को जान लेता है वह परम तत्त्व (मोक्ष) को जान लेता है। जो आत्मा के प्रति समर्पित हो जाता है वह परम सत्य के प्रति समर्पित हो जाता है। जो आत्मा के प्रति आस्थाशील बन जाता है, वह अनुपम आनंद के द्वार को उद्घाटित कर लेता है। आत्म-सुख सचमुच तुलनारहित, कल्पनारहित और उपमारहित सुख है। आत्म-सुख संयम से निष्पन्न होता है, इसलिए संयम को ही सुख कहा गया है। जहां संयम है, वहां सुख है। संयम से समुत्पन्न सुख अबाधित और क्लेशरहित होता है। संयम का प्रतिपक्षी असंयम है। असंयम दुख है। यह अनुभव का स्वर है। परिणाम द्रष्टा इस कथन को सहजतया स्वीकार कर लेता है।

जिसके मन में आगम वाणी के प्रति दृढ़ आस्था है, वह संयम को सुख की खान मानता है। असंयम ही समस्याएं पैदा करता है, किंतु असंयम का स्वीकरण मानवीय विवशता और दुर्बलता है। उसे सर्वथा छोड़ देना मनुष्य की विजय है। संयम को उत्तम धर्म मान लेने पर सम्यक् आचरण की दिशा में प्रस्थान प्रारंभ हो जाता है। आस्था का दारिद्र्य व्यक्ति को आचरण की दहलीज तक पहुंचने में व्यवधान पैदा करता है। सत्य, संयम, शील, शौच, सत्प्रवृत्ति और सौजन्य के प्रति आस्था का जागरण जीवन की महान उपलब्धि है। सही आस्था व्यक्ति को सही आचरण के लिए उत्प्रेरित करती है। आचरण से आस्था पुष्ट होती है और आस्था से आचरण सशक्त बनता है। सत्य के प्रति घनीभूत आस्था व्यक्ति को विराट बना देती है। जिसमें आस्था का बल नहीं है, वह संयम जीवन का अधिकारी नहीं है। उसका संयमाचरण डगमगाती नौका की तरह होता है। सही और विधेयात्मक चिंतन से व्यक्ति का आस्था-बल विकसित होता है। यह आत्म-विकास का आदि बिंदु है। जीवन के केंद्र में आत्मा की प्रतिष्ठा ही साधना है। जो जितना आत्मकेंद्रित होता है वह उतना ही महान साधक होता है। आत्म-प्रतिष्ठित होना साधक का प्रथम गुण है। परदोष-दर्शन साधक के लिए अवांछनीय है। जो दूसरों को देखने में ही अपनी सारी शक्ति खपाता है, वह निरा मूर्ख है। स्वयं को देखना ही आत्मोपलब्धि का मार्ग है। जिसके पास स्वयं को देखने के लिए अवकाश नहीं है, वह आत्म-साधना से बहुत दूर है। स्वयं को देखे बिना परिष्कार का मार्ग प्रशस्त कैसे होगा? स्व-निरीक्षण आत्म-साधना का अमोघ सूत्र है। पंचपरमेष्ठी की स्मृति और पावन पुरुषों की अनुशंसा आत्मसन्निधि को पाने में बहुत लाभकारी है। देहाध्यास और मूर्च्छा को तोड़ने के लिए जगत और कर्म-विपाक का चिंतन बहुत लाभदाई है। अविचारित और आवेशजनित शब्द-प्रयोग से बचने के लिए आवेगमुक्त व्यवहार जरूरी है। आवेग अनिष्टकारी है। आत्मा की अशांति और जीवन की तबाही का यह मूल कारण है। आवेश प्रत्यक्ष दुख है, क्योंकि उससे व्यक्ति का पारस्परिक व्यवहार और सामूहिक जीवन विघटित होता है। स्वास्थ्य और चेतना का विध्वंस होता है। आवेश विघटनकारी शक्ति है। आवेश का वशवर्ती मनुष्य पुनः-पुनः अनर्थ आचरण करता है। क्रोध, लोभ, मिथ्या, मानदंड और असहिष्णुता के चक्रव्यूह से निकले बिना शांति मात्र स्वप्न है। प्रचुर भोगोपभोग के साधन भी व्यक्ति को शांति और आत्म-तोष देने में असमर्थ हैं। शांति की खोज से पूर्व संयम का आचरण और संयम के आचरण से पूर्व सत्य की खोज अपेक्षित है। अपने अस्तित्व की खोज ही सत्य की खोज है और यह खोज ही व्यक्ति को अध्यात्म-मार्ग में यात्रायित कर सकती है।

सभी व्यक्ति जीवनयापन करते हैं। हर व्यक्ति के साथ जीवन की अपेक्षाएं जुड़ी हुई हैं। अपेक्षा-संपूर्ति के प्रचुर साधन उपलब्ध हैं। मनुष्य उन साधनों को जुटाने का निरंतर प्रयत्न करता है। क्या इतना प्रयत्न कर लेना ही पर्याप्त है? क्या साधन-संपन्न बन जाने से जीवन-विकास संभाव्य है? क्या साधन-सामग्री की प्रचुर उपलब्धता मनुष्य को त्राण और तोष दे सकती है? मनुष्य की मौलिक आवश्यकताएं स्वल्प हैं। काल्पनिक और मानसिक आवश्यकताएं अधिक हैं। इनकी संपूर्ति अधिक कठिन है। ये आवश्यकताएं अपने से उच्च स्थिति में स्थित लोगों को देखने से उत्तरोत्तर बढ़ती चली जाती हैं। अधिक आवश्यकताओं से अधिक दुख का विपाक होता है। इसलिए संयम-जीवन का प्रथम सूत्र है कि व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं का अल्पीकरण करना सीखें। व्यक्तिगत भोगोपभोग का परिसीमन करें। अनुचित साधनों से अर्थोपार्जन को रोकें। यह संयम भीतर अवस्थित लोभ को न्यून करने का सशक्त उपाय है।

क्षमा, संतोष, सहिष्णुता और गांभीर्य के बिना जीवन में सुख की सृष्टि कैसे हो सकती है? सुख पाने के लिए सुख के अनुरूप प्रवृत्ति जरूरी है। सुख विरोधी प्रवृत्ति से सुख की आकांक्षा करना भूलभरा चिंतन है। सुख दो प्रकार का होता है—मोहात्मक और अमोहात्मक। मोहात्मक सुख से सभी जीव सुपरिचित हैं, क्योंकि चिरकाल से वह अभीप्सित और अभिकांक्षणीय है। इंद्रिय-चेतना में जीने वाले सभी इसी सुख की परिक्रमा करते हैं। अतींद्रिय चेतना, लोकोत्तर चेतना या अंतर्दृष्टि जागने पर ही अमोहात्मक सुख अभिलषणीय बनता है। तभी उसकी मूल्यवत्ता बुद्धिगम्य होती है। भोगी व्यक्ति अभोग के मूल्य को कैसे समझ सकता है? मोहात्मक सुख से उपरत होने का प्रयत्न ही जीवन की सार्थक दिशा है। आध्यात्मिक चेतना के बिना न खाने और न बोलने का मूल्य हृदयंगम नहीं होता। संयत चेतना में ही अध्यात्म और उपशम-सुख का प्रकटीकरण होता है। आत्मस्थ-वृत्ति का विकास सर्वाधिक मूल्यवान घटक है। इसके लिए आत्म-निरीक्षण, भाव-क्रिया, ऊर्ध्व-लोक की यात्रा, अनुप्रेक्षा, भेद-विज्ञान और एकाग्रता के प्रयोग सबल आलंबन हैं। सब-कुछ सह लेने का अभ्यास चैतन्य-विकास का सबल साधन है। हमें संयम-विकास के लिए बहुत अनुकूल स्थिति प्राप्त है। आत्म-कल्याण साधा जा सकता है, उसके लिए आत्म-केंद्रित होना आवश्यक है। आत्मस्थ और अंतर्मुखी बनना जरूरी है। ममत्व को छोड़

समत्व में प्रतिष्ठित होना जीवन की सर्वोत्तम उपलब्धि है। वीतरागता से बड़ा सुख और समाधान नहीं है। अभी हम दुख की महान कारा से मुक्त होकर सुख के क्षणों में जी रहे हैं। अभी हमने नरक, तिर्यंच, गर्भजन्य दुख के साथ निम्न कुल संबंधी अभावग्रस्तता को अतिक्रांत किया है। संयम की दिशा में अभिमुख होने का स्वर्णिम अवसर प्राप्त किया है। इन मूल्यवान क्षणों को भावोत्कर्ष के साथ आत्म-विकास में नियोजित करें तो जन्म-मरण की सुदीर्घ परंपरा को कृश किया जा सकता है। संयम-यात्रा के लिए अभी पर्याप्त अनुकूलता है। वय और विवेक का समीचीन सुयोग है। कुछ नैसर्गिक अर्हताएं भी प्राप्त हैं। मुनि-जीवन अंतर्जगत के आनंद से आह्लादित होने का सुनहरा अवसर है। मुनि आत्मरमण कर आत्म-सुख का अनुभव करते हैं। उनका आनंद निरावधि होता है। साधु-जीवन सुख और शांति का जीवन है। इसमें आत्म-साधना के लिए अनुकूल वातावरण मिलता है। साधु-जीवन साधना की सहज पृष्ठभूमि है। साधु बनने वाला आत्मानंद के वातायन को खोल देता है। अपनी आत्मा से संपर्क सध जाने पर सुख का स्रोत उपलब्ध हो जाता है। अपने आत्म-विकास के प्रति समर्पित हो जाना साधु जीवन को अभीष्ट है। अपनी संयत आत्मा सर्वोत्कृष्ट तीर्थ है। आत्म-केंद्रित बन जाने पर शारीरिक दुख स्वल्प हो जाते हैं और मानसिक दुख समाप्त हो जाते हैं। आत्म-विस्मृति दुख है। आवेश दुख है। यथार्थतः सुख और दुख का संवेदन भीतर होता है। अहं, आवेश और आर्त्तता के विगलित होने पर दुख समाप्त हो जाता है।

मुनि-जीवन निर्मोह की साधना है। मोह सर्वथा हेय है। मोह से परिग्रह बढ़ता है। परिग्रह से मोह बढ़ता है। यह दुश्चक्र प्राणी को दुर्गति में ले जाता है। ज्ञानी पुरुष परिग्रह को दुख-मूलक मानते हैं। अज्ञानी पुरुष उसे सुखोत्पत्ति का साधन मानते हैं, अतः परिग्रह का सीमाकरण उन्हें श्रेयकारी नहीं लगता है। असीम परिग्रह की आकांक्षा से वे संत्रस्त हैं। संयत जीवन-चर्या और व्यक्तिगत भोग की सीमा स्वीकार करने पर परिग्रह की पीड़ा नियंत्रित हो सकती है। अन्यथा वह पीड़ा निरंतर तन और मन को कृश करती रहती है, कचोटती रहती है। भोग और परिग्रह का त्याग लोभ और भय से भी किया जाता है और वैराग्य से भी किया जाता है। विरक्ति से त्याग करने वाला ही अनुशंसा का पात्र है। विरक्ति के अभाव में पदार्थ का त्याग होने पर भी व्यक्ति की मूर्च्छा घटती नहीं है। मूर्च्छा को घटाना ही सुख और धर्म है। जो दुख को मिटाना चाहे उसे अपरिग्रह की दिशा में प्रस्थान करना आवश्यक है। कर्म और कर्म से प्रसूत यह औदारिक शरीर परिग्रह है। ममता का यह वृहत बीज है। सुखैषणा और लोकैषणा से यह ममता सघन बनती है। ममता ही दुख की सृजनहार है। ममता से देहासक्ति जागती है और हिंसा का द्वार खुलता है। अर्थ-हिंसा की सीमा को लांघना सर्वथा अव्यावहारिक है। अनर्थ-हिंसा का त्याग और अर्थ-हिंसा का अल्पीकरण जागरूक जीवन का उदाहरण है। यह संयम जीवन का विकास और अहिंसक चेतना का अभ्युदय है। हिंसा का सर्वथा त्याग संयम-जीवन का उत्कृष्ट विकास है।

विष और पाप दोनों घातक हैं। विष देह की घात करता है और पाप आत्मा की घात करता है। देहघाती और आत्मघाती तत्त्वों का वर्जन आवश्यक है। देह-रक्षा के लिए विष का और आत्म-रक्षा के लिए पाप का परिहार आवश्यक है। पाप रूपी पंक का संचय करने वाले तत्त्वों का निवारण जरूरी है। आगम-साहित्य में पाप-कर्म-बंध के निवारण की विस्तृत चर्चा है। यत्नपूर्वक कार्य करने वाला सुधी पाप से संस्पृष्ट नहीं होता है, यह आगम वाणी का मर्म है। पुद्गल-सुख के प्रति निरपेक्ष और अनासक्त रहने वाला भी पाप-कर्म का विवर्जन करता है। असंग रहने वाला दुख और कष्ट को भी न्यून करता है।

तिर्यंच और मानवीय सुखों से लेकर अनुत्तर विमानवासी देवों के सुख भी पौद्गलिक हैं। यद्यपि देवों के पास मनुष्यों की अपेक्षा अनंतगुणा सुख हैं, किंतु कालक्रम से ये सभी पौद्गलिक सुख बीत जाते हैं। इन सुखों के छूटने पर जीव विषाद का अनुभव करता है और अनुताप से दग्ध हो जाता है। मुनि बनने वाला इन सभी पौद्गलिक सुखों को अतिक्रांत कर देता है। मुनि-जीवन का सुख अनुपमेय है। उपशम सुख के अधिकारी केवल साधनाशील मुनि ही होते हैं।

धर्मशासन साधना का पुष्ट आलंबन है। धर्मसंघ सबको साधना का समान अवसर प्रदान करता है। स्थानांग सूत्र में वर्णित पांच निश्राओं में संघ भी एक निश्रा और आलंबन है। संघ और संघपति अपने व्यवस्था-कौशल से साधक समुदाय को निश्चिंतता और लक्ष्योन्मुखता प्रदान करते हैं। सामयिक प्रेरणा और मार्गदर्शन से साधना का मार्ग प्रशस्त करते हैं। अभग्नचित्त साधना में शासन और शासनपति का अपूर्व योगदान है। धर्म-शासन में गुरु-शिष्य संबंध मणिकांचन योग है, जो उभयपक्षों को तेजोमय बनाते हैं और संसार-सागर से उबरने में नवशक्ति का सृजन करते हैं। ❖

अब तक बिस्तर काफी भीग गया था। इतना भीग गया था कि बिस्तर सोने लायक नहीं रह गया। गुरुदेव अब सोचने लगे कि क्या किया जाए! बूढ़े आदमी थे। अनजान जगह में दरवाजा खोलकर बाहर जाने में डर लगता ही है और फिर भीतर रहना भी खतरे से खाली नहीं था। जब छत इस बुरी तरह फट गई है, पता नहीं कब सिर पर गिर पड़े! डरते-डरते वे बाहर निकल आए।

कहानी

गुरुजी

⊙ **शरत्चन्द्र चट्टोपाध्याय**

यह आज की बात नहीं है, बल्कि बहुत दिन पहले की बात है जब हम अपने गांव की एक पाठशाला में एक ही क्लास में पढ़ते थे। उन दिनों हमारी उम्र 10-11 वर्ष की थी। लालू के दिमाग में दुनिया भर की शरारतें भरी थीं। आदमी को डराने, सजा देने और न जाने कितने तिकड़म उसके दिमाग में थे। एक बार लालू ने अपनी मां को रबर का सांप दिखाकर इस तरह डरा दिया कि उनके पैर में मोच आ गई, जिसकी वजह से उन्हें 7-8 दिनों तक लंगड़ाकर चलना पड़ा था। लालू की इस बदमाशी से चिढ़कर मां ने कहा—'इसके लिए मास्टर रख दिया जाए। नित्य शाम को जब पढ़ने बैठेगा तब इसे बदमाशी करने का मौका नहीं मिलेगा।'

यह सुनकर लालू के पिताजी ने कहा—'नहीं, मेरे लिए मास्टर नहीं रखा गया था। मैं स्वयं अपने प्रयत्नों से, अनेक दुख-कष्ट झेलकर पढ़-लिखकर वकील बन पाया हूं। मेरी इच्छा है कि लालू भी मेरी तरह पढ़-लिखकर आदमी बने। जिस साल लालू क्लास की परीक्षा में फर्स्ट नहीं आएगा, उस वर्ष उसके लिए ट्यूटर रख लिया जाएगा।'

पिताजी के कारण लालू को मुक्ति मिल गई, लेकिन मन-ही-मन मां पर उसे काफी गुस्सा आया। वह इसलिए कि उसके सर पर शाम को पढ़ने के लिए मास्टर लाद देने के चक्कर में थीं। लालू का खयाल है कि मास्टर और पुलिस बराबर होते हैं।

लालू के पिता धनी गृहस्थ थे। कई साल हुए उन्होंने अपना पुराना मकान गिराकर पुनः नया तिमंजिला मकान बनवाया था। मकान बन जाने के बाद से लालू की मां की इच्छा थी कि गुरुजी इस मकान में आकर जूठा गिरा दें। लेकिन वे काफी बूढ़े थे। फरीदपुर से इतनी दूर इसके लिए आने को राजी नहीं होते थे। बहुत दिनों बाद इस बार मौका आ गया। गुरुदेव सूर्यग्रहण के उपलक्ष्य में काशी आए थे। वहां से उन्होंने नंदरानी को लिख भेजा कि यहां से वापस लौटते समय आशीर्वाद देने आएंगे। लालू की मां के आनंद की सीमा नहीं रही। वे गुरुजी के स्वागत की जोर-शोर से तैयारी करने लगीं। उनकी बहुत दिनों की मनोकामना पूरी होने जा रही थी। इस नए मकान में उनके चरणों की धूलि मिलेगी, घर पवित्र हो जाएगा।

नीचे के बड़े कमरे से सामान हटाया गया। निवाड़ का पलंग गुरुवर के सोने के लिए बनवाया गया। इसी कमरे में उनके लिए पूजा की जगह बनाई गई, क्योंकि उन्हें तिमंजिले पर स्थित पूजाघर में आने-जाने में तकलीफ होगी।

बहुत दिनों बाद गुरुदेव स्मृतिरत्न आ गए। लेकिन बड़े कुसमय आए। आसमान बादलों से घिरा हुआ था। बाहर मूसलाधार पानी बरस रहा था और तेज हवा के झोंके चल रहे थे।

इधर लालू की मां को तरह-तरह के पकवान बनाने, फल-फूल सजाने आदि काम के कारण जरा भी सांस लेने का मौका नहीं मिल रहा था। गुरुदेव के लिए पलंग पर बिस्तर बिछाकर मसहरी लगा दी गई। थके-मांदे गुरुदेव भोजन करने के पश्चात् पलंग पर जाकर सो गए। इसके बाद नौकर-चाकरों को छुट्टी दे दी गई। मुलायम शय्या पर आराम पाने के कारण गुरुदेव ने मन-ही-मन नंदरानी को आशीर्वाद दिया।

आधी रात को अचानक उनकी नींद खुल गई। छत से पानी मसहरी को तर करता हुआ, उनकी तोंद पर गिर रहा था। बाप रे, कितना ठंडा पानी है! वे चौंककर उठ बैठे और तोंद पर गिरे पानी को पोंछ डाला। फिर बोल उठे—'नंदरानी ने मकान तो नया जरूर बनवाया है, पर पछांह की कड़ी धूप के कारण छत फट गई है।' निवाड़ वाला पलंग भारी नहीं था। मसहरी सहित उसे खींचकर गुरुदेव दूसरी ओर ले गए और पुनः सो गए। लेकिन अभी आधा मिनट से अधिक नहीं हुआ होगा कि पुनः दो-चार बूंद ठंडा पानी उसी तरह टप-टपकर तोंद पर उसी स्थान पर गिरा। स्मृतिरत्न उठ बैठे और चारपाई को दूसरी ओर खींच ले गए। इस बार भी फिर बूंद आ गिरी। फिर दूसरी ओर ले गए और फिर पहले की तरह पानी गिरा। अब तक बिस्तर काफी भीग गया था। इतना भीग

गया था कि बिस्तर सोने लायक नहीं रह गया। गुरुदेव अब सोचने लगे कि क्या किया जाए! बूढ़े आदमी थे। अनजान जगह में दरवाजा खोलकर बाहर जाने में डर लगता ही है और फिर भीतर रहना भी खतरे से खाली नहीं था। जब छत इस बुरी तरह फट गई है, पता नहीं कब सिर पर गिर पड़े! डरते-डरते वे बाहर निकल आए।

बाहर बरामदे में एक लालटेन जल रही थी। कहीं कोई दिखाई नहीं दे रहा था। चारों तरफ अंधकार ही अंधकार था। पानी जोर से बरस रहा था। और वैसे ही तेज हवा चल रही थी। कैसे कोई वहां खड़ा रहे ? घर के नौकर-चाकर भी नहीं दिखाई दे रहे थे। पता नहीं, वे सब किस कमरे में सोते हैं ? स्मृतिरत्न को इसका ज्ञान नहीं था। दो-तीन बार उन्होंने आवाज भी दी, प्रत्युत्तर में किसी ओर से कोई जवाब नहीं आया।

एक ओर एक बेंच पड़ी थी। इस बेंच पर लालू के पिता के गरीब मुवक्किल बैठते हैं। लाचारी में गुरुदेव उसी पर बैठ गए। मन-ही-मन उन्होंने यह महसूस किया कि इससे उनकी मर्यादा पर ठेस पहुंची है। लेकिन इस समय इसके अलावा और कोई चारा भी नहीं था। हवा में ठंड रहने के कारण सर्दी भी लग रही थी। गुरुदेवजी ने धोती का एक हिस्सा खोलकर सिर पर डाल लिया। दोनों पैर आपस में सटाकर, उकडूं बैठकर यथासाध्य आराम पाने की कोशिश करने लगे। मन बड़ा दुखी हो गया। इधर नींद के कारण आंखें ढपी जा रही थीं। गरिष्ठ भोजन करने के कारण कई बार खट्टी डकारें भी आईं। इसी तरह नाना प्रकार की चिंताएं उन्हें सताने लगीं।

ठीक इसी समय एक नया उपद्रव प्रारंभ हुआ। पछांह के बड़े-बड़े मच्छर कानों के पास गुनगुनाने लगे। ढपती हुई आंखों को उधर ध्यान नहीं देना चाहिए, परंतु मन शंकित हो उठा। पता नहीं, इनकी संख्या कितनी है! दो मिनट बाद ही गुरुदेवजी को मालूम हो गया कि इनकी संख्या अनगिनत है। इस सेना की उपेक्षा करने वाला संसार में कोई वीर नहीं था। इनके काटने से जैसी जलन होती थी, वैसी ही खुजलाहट। स्मृतिरत्न ने तुरंत उस स्थान को छोड़ने में कल्याण समझा। वे वहां से कुछ दूर हट गए, मगर मच्छरों ने उनका पीछा नहीं छोड़ा। कमरे के अंदर पानी ने जैसा हाल कर रखा था, उसी प्रकार बाहर मच्छरों का दल भी परेशान कर रहा था। बराबर मच्छरों को भगाने के लिए गमछा फटकारते रहने पर भी उनके आक्रमण को रोका नहीं जा सका। थोड़ी देर बाद वे इधर-उधर दौड़ने लगे। इस सर्दी में भी वे पसीने में लथपथ हो गए।

एक बार उनके जी में आया कि जोरों से चीख उठे, परंतु ऐसा करना बचपना होगा, समझ कर चुप लगा गए। कल्पना में उन्होंने देखा कि नंदरानी मुलायम बिस्तर पर मसहरी लगाकर आराम से सो रही है। घर के अन्य लोग भी अपनी-अपनी जगह पर सोए हुए हैं। लेकिन उनकी दौड़-धूप में जान फंसी हुई है। तभी किसी घड़ी ने टन-टन कर चार बजने की सूचना दी। परेशान होकर बोले—'काटो कमबख्तो, खूब काटो! जितना काट सकते हो काटो! अब मैं तुम्हें भगाने से रहा।'

इतना कहने के बाद वे अपनी पीठ को मच्छरों के हमले से बचाने के लिए दीवार से सटकर बैठ गए। फिर बोले—'अगर सवेरे तक जीवित रहा तो इस अभागे देश में फिर नहीं रहने का! पहली गाड़ी से घर चल दूंगा। क्यों यहां आने का मन नहीं करता था, अब समझ गया।' यही सब सोचते-सोचते उन्हें नींद आ गई और रात भर की थकान के कारण बड़े बेखबर सो गए।

इधर नंदरानी काफी तड़के उठ गईं। क्योंकि गुरुदेव की सेवा में काम करना था। रात में केवल जल-पान मात्र गुरुदेव ने किया था। यद्यपि वह जल-पान तगड़ा था, परंतु नंदरानी मन-ही-मन सोचती रही कि अपनी पसंद की चीज वह नहीं थी। आज उस घाटे को पूरा करने की इच्छा उनके मन में हुई।

नीचे उतरने पर देखा—गुरुदेवजी के कमरे का दरवाजा खुला हुआ है। गुरुदेव मेरे पहले ही उठ गए हैं, जानकर वे अत्यंत लज्जित हुईं। कमरे के भीतर झांककर देखा तो वे नदारद थे। यह क्या हुआ ? दक्खिन की चारपाई उत्तर की ओर कैसे चली आई। उनका झोला खिड़की के पास से बाहर पहुंच गया था। पूजा के सामान और आसन आदि दूर बिखरे पड़े थे। बात कुछ समझ में नहीं आ रही थी। बाहर आकर वे नौकरों को बुलाने लगीं। नौकरों में कोई भी तब तक नहीं जगा था। जब यह हालत है तो गुरुजी कहां गए ?

अचानक नंदरानी की नजर एक ओर उठी—अरे यह क्या है ? एक कोने में, अंधेरे में आदमी की तरह न जाने कौन बैठा है। हिम्मत करके वे आगे बढ़ आईं तो देखा ये तो गुरुदेव हैं!

आशंका से चिल्ला उठीं—'गुरुजी... !'

नींद टूटने पर स्मृतिरत्न ने आंखें खोलकर देखा, फिर धीरे-धीरे सीधे बैठ गए!

नंदरानी चिंता, लज्जा और भय के कारण अवरुद्ध कंठ से पूछ बैठी—'गुरुजी, आप यहां क्यों ?'

स्मृतिरत्न उठ खड़े हुए और बोले—'बेटी, रात भर मेरे दुखों की सीमा नहीं रही।'

'क्यों गुरुदेव?'

'तुमने नया मकान बनवाया तो जरूर है, पर बेटी ऊपर की सारी छत चिटक गई है। रात भर पानी टपकते रहने के कारण सब मेरे ऊपर गिरती रही। कहीं छत न गिर जाए, इसलिए डरकर बाहर भाग आया। लेकिन यहां भी बचाव नहीं कर सका। टिड्डियों की तरह मच्छरों के झुंड सारी रात काटते रहे। रात भर इधर-उधर दौड़ता रहा। इन मच्छरों ने आधा खून पी लिया।'

बहुत दिनों से मनाने और आराधना करने पर गुरुजी यहां आए और यहां उनकी हालत देखकर नंदरानी की आंखें गीली हो गईं। बोलीं—'मगर गुरुदेव, यह मकान तिमंजिला है। बरसात का पानी तीन-तीन छतों को पार करके कैसे गिर सकता है?'

कहते-कहते अचानक नंदरानी रुक गईं। उन्हें यह समझते देर नहीं लगी कि कहीं इस कांड के पीछे लालू का हाथ न हो। वे दौड़ी हुई कमरे में आईं तो देखा—'बिस्तर काफी भीगा हुआ है और मसहरी के भीतर अभी तक पानी की बूंदें टपक रही थीं। चौंककर ऊपर देखा तो मसहरी के ऊपर एक बरफ का टुकड़ा कपड़े से बंधा पाया। अभी तक वह पूरा नहीं गल पाया था। पागलों की तरह दौड़कर वे बाहर आईं। नौकरों में जिसे सामने देखा उसे चिल्लाकर कहने लगीं—'पाजी ललुआ कहां है? काम-काज जहन्नुम में जाए! वह शैतान जहां मिले, उसे मारते-मारते पकड़ लाओ।'

लालू के पिता उस समय नीचे उतर रहे थे। पत्नी का चीखना-चिल्लाना देखकर वे भौचक्के रह गए। उन्होंने पूछा—'आखिर हुआ क्या? यह क्या कर रही हो?'

नंदरानी ने रोते हुए कहा—'या तो ललुआ को घर से निकाल दो, नहीं तो मैं आज गंगा में डूबकर अपने पापों का प्रायश्चित्त करूंगी।'

'क्या किया है, उसने?'

'बिना अपराध ही गुरुदेव की कैसी गति बना दी है उसने। आओ, आकर अपनी आंखों से उसकी करनी देख जाओ।'

सभी अंदर गए। नंदरानी ने सब दिखाया और सुनाया। फिर पति से बोलीं—'अब तुम्हीं बताओ कि इस शैतान लड़के को लेकर कैसे कोई इस घर में रह सकता है?'

गुरुदेव की समझ में सारी बात आ गई। अपनी बेवकूफी पर वृद्ध खिलखिलाकर हंस पड़े। लल्लू के पिता दूसरी ओर मुंह फेरकर खड़े हो गए।

एक नौकर ने आकर बताया—'लल्लू बाबू कोठी में नहीं हैं।'

दूसरे ने आकर बताया कि वह मौसी के यहां मिठाई खा रहे हैं। मौसी ने उन्हें आने नहीं दिया।

मौसी से मतलब है—नंदरानी की छोटी बहन! उसके पति भी वकील थे। वे दूसरे मोहल्ले में रहते थे। इसके बाद पंद्रह दिनों तक लालू ने इस मकान में पैर नहीं रखा। ❖

शिक्षा एक अत्यधिक जटिल समस्या है। इसका विवेकीकरण और विज्ञानीकरण एक महान कार्य है। यह सोचना कि कुछ पृथक व्यक्तियों के सीमित अनुभव और सृजनात्मक विचारों से यह कार्य संपन्न हो सकता है, भ्रांतिपूर्ण है। शिक्षा के अनिवार्य उद्देश्यों को चैतन्य रूप से जानकर, विभिन्न शाखाओं के ज्ञानी लोगों की सहयोग धाराओं के समन्वय से ही यह कार्य संपन्न होना संभव है। विशेष रूप से गुणात्मक शिक्षा को साकार करने के लिए यह जरूरी है कि पहले भिन्न शाखाओं में योजना बनाने और कार्यान्वित करने के कार्य का विभाजन किया जाए और फिर उनका पारस्परिक और सुसंगत रूप से सामंजस्य किया जाए।

—त्सुनेसाबुरो माकीगुची

नवीन सागर की कविताएं

ये मेरे पागल विचार हैं

यह संसार कुछ नहीं
हर पल और भी ज्यादा उलझती
फैलती जाती उलझन के सिवा जो लगातार
गणितीय स्पष्टता के साथ
जटिल और अंतर्विरोधी होता जाता है

यह संसार फैलता हुआ है
लगातार छोटे होते ऐसे केंद्रक में जो
लुप्त होने के बाद आगे लुप्त होता भाग रहा है

इस फैलते संसार को
समझने का कारण समझना
मुश्किल है

इच्छाएं, चीजें
भावनाएं
विचार
न कुछ की डूबती ध्वनियां हैं
जो न कुछ में फैल रही हैं

एक उदास क्षण की खामोश हंसी
अपने निर्वात में फैलकर इस तरह रह गई है
कि पूरी दीवार एक फोटो है
जिसे अंधेरा देख रहा है।

•

वहीं से आना है

हर जगह से भाग रहे हैं
उस जगह से भी
जहां थे नहीं
अपने एकांत से
किसी तरफ को नहीं
किसी भी तरफ को
अपनी परछाइंयों से टकराते हुए
लड़खड़ाते
गिर रहे हैं और भाग रहे हैं

इस हलचल की धुंधली दूरियों में
एक परछाईं हमारी
भागती नहीं है
अंधेरे की चिलक-सी वह रहती है
घोर अंधकार में

वहीं से आना है।

•

वास्तव में अवास्तविक हूं

जहां से शुरू हुआ हूं
वहां से पहले से है मेरी शुरुआत
जहां हुआ हूं खत्म
वहां से आगे चला गया है मेरा सिलसिला

जीवन के विभ्रम की धुंधली याद है
जीवन भूला हुआ अनुक्रम
दोहराता हूं
भीतर जाता हूं बाहर
मेरी परछाईं फैलती है
धरती से आसमान तक मेरा आभास है
या सृष्टि मेरा रहस्य खोजती है

भीतर
भटक जाता हूं तो मैं
तारों में छिटक जाता हूं

मैं
अवास्तविक हूं
वास्तव में अवास्तविक हूं।

•

जब खुद नहीं था

ऐसे में किस-किस को
बुलाता
जब खुद नहीं था!

क्यों बुलाता
जब डर था
कदम-कदम पर डर से
मरने का डर था
इस तरह छूटता हुआ

मैं कौन जा रहा हूं
अपनी अजनबी आंखों से दूर!

❖❖

शीलन

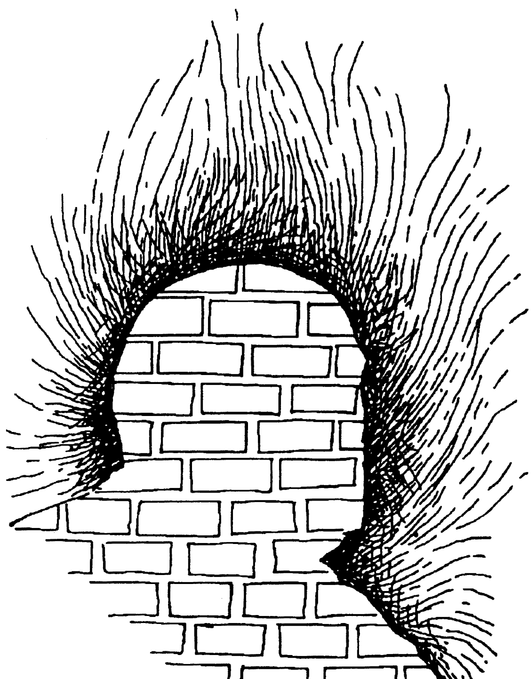

मेरा यह विश्वास है कि भारत की कमजोरी का प्रमुख कारण उसकी दासता नहीं है, न गरीबी और न आध्यात्मिकता अथवा धर्म की हीनता, बल्कि वह है विचार-शक्ति का ह्रास, ज्ञान की मातृभूमि में अज्ञान का विस्तार। सर्वत्र मैं विचार करने की अयोग्यता अथवा अनिच्छा—विचार की असमर्थता या विचार-भीति देखता हूं। मध्य युग में जो भी रहा हो, इस समय यह प्रवृत्ति महान अवनति का लक्षण है। मध्य युग तो एक रात थी, अज्ञानी आदमी की विजय का समय; आधुनिक विश्व ज्ञान के आदमी की विजय का समय है। जो भी अधिक विचार करके, अधिक खोज करके, अधिक श्रम करके विश्व के सत्य को अधिक जान और सीख सकेगा वही अधिक शक्ति प्राप्त करेगा।

—श्री अरविंद

इस संघ का परम सौभाग्य रहा है कि संघ के प्राणवान आचार्यों ने संघ की श्रीवृद्धि हेतु आंतरिक व बाह्य संघर्षों का सामना करते हुए विरोध को विनोद मानकर संघ प्रभावना को ही अपना प्रमुख लक्ष्य बनाया। चतुर्विध धर्मसंघ ने भी संघवृद्धि के लिए संघ के साथ अपना तादात्म्य संबंध स्थापित किया और संघ और स्वयं को भिन्न नहीं माना। इस अभेद की अनुभूति ने संघ में साधु-साध्वियों, श्रावक-श्राविकाओं की गुणवत्ता को बढ़ाया है।

आतम रा कारज सारस्यां

⊙ समणी विपुलप्रज्ञा

तेरापंथ का नाम कैसे पड़ा? यह एक लोक प्रसिद्ध बात है—जोधपुर के दीवान फतैहमलजी सिंघी ने एक हाट में कुछ श्रावकों को सामायिक प्रतिक्रमण करते हुए देखा और पूछा कि संत भीखणजी के मत में साधु कितने और श्रावक कितने? उत्तर मिला—तेरा (तेरह)। तब दीवानजी बोले—यह कैसा अद्भुत संयोग है—तेरा ही साधु और तेरा ही श्रावक। यह बात वहीं साथ खड़े एक सेवक जाति के कवि ने सुनी। उसने तुरंत एक दोहा जोड़ा और उच्च स्वर में उच्चारण करते हुए कहा—

'साध साधरो गीलो करै, ते आप आपरो मंत।
सुणज्यो रे शहर रा लोगां, ए तेरापंथी तंत।।'

फिर तो आम-जन स्वामीजी के अनुयाइयों को 'तेरापंथी' कहकर पुकारने लगे। जब इस घटना का पता कुछ समय बाद स्वामीजी को चला तो वे तुरंत अपने पट्ट से नीचे उतरे और वंदना की मुद्रा में बोले, 'हे प्रभो! यह तेरापंथ। भगवन! यह 'तेरा' पंथ है और हम इस पंथ पर चलने वाले पथिक हैं।' अनायास ही जैन संप्रदाय में एक नया संप्रदाय तेरापंथ का उद्भव हो गया। इस प्रकार आषाढ़ पूर्णिमा विक्रम संवत 1817 (सन् 1860, जून 29, शनिवार) तेरापंथ की स्थापना का दिन माना जाता है।

तेरापंथ धर्मसंघ की मूल भित्ति है—स्वस्थ विचार, शुद्ध आचार और सुनियोजित, अनुशासित व मर्यादित संगठन। निस्संदेह भिक्षु शासन एक शक्तिशाली, आचार-निष्ठ व जनप्रिय संगठन है। तेरापंथ धर्मसंघ आज जिस उत्कर्ष की स्थिति में है, उसे वहां तक पहुंचने में कितना समय लगा है? कितनी शक्ति लगी है? उसे इतिहास के आलोक में झांक कर ही देखा जा सकता है। इस संघ की प्रगतिशीलता और व्यापकता के पीछे चतुर्विध धर्मसंघ की त्याग, तपस्या और बलिदानों की अमर कहानी निहित है।

तेरापंथ स्थापना दिवस पर विशेष (सन् 1860-2001)

परिस्थितियों के सर्वांगीण अध्ययन के बाद जब संत भीखण ने अनुभव किया कि जहां साधुत्व के वेश में असाधुत्व बोल रहा है और दुःषम काल की आड़ में मानवीय दुर्बलताएं मनमानी अठखेलियां कर रही हैं क्या वहां धर्म और अध्यात्म की साधना सफल हो सकती है? भिक्षु के मानस को इन्हीं विचारों ने आंदोलित कर दिया और सत्य के उद्घाटन हेतु एक महान धर्मक्रांति करने को प्रेरित भी किया। अभिनिष्क्रमण करने से पूर्व अपने गुरु आचार्य रघुनाथजी व शिष्य भीखण का गहरा तादात्म्य संबंध था। वे अपने गुरु के प्रिय शिष्य थे। गुरु को भी अपने शिष्य भीखण से बड़ी-बड़ी आशाएं थीं। भीखणजी भी अपने गुरु से अलग होना नहीं चाहते थे। इसीलिए उन्होंने गुरुदेव से निवेदन भी किया कि जैन सिद्धांतों के अनुसार यदि शुद्ध मार्ग को स्वीकार करते हैं तो आप ही मेरे गुरु हैं। हम सत्यमार्ग को अंगीकार करें। हमने आत्म-कल्याण के लिए घर छोड़ा है, पूजा प्रतिष्ठा के लिए नहीं। संत भीखणजी ने इन्हीं पवित्र भावनाओं से उत्प्रेरित होकर अभिनिष्क्रमण किया। लेकिन जैसा कि अनुमान था—धर्मक्रांति की शुरुआत के साथ ही उनका प्रथम स्वागत श्मशान भूमि में हुआ। पग-पग पर विरोधी वातावरण व अवरोधों की लंबी श्रृंखलाएं, मुक्कों की मार, अपमान, तिरस्कार जैसे हलाहल विष को पीकर भिक्षु सचमुच ही शिवशंकर बन गए। संत भिक्षु ने और लोहपुरुष जैसे उनके साथी संतों ने किसी भी प्रतिकूल परिस्थिति में घुटने नहीं टेके। उनका संकल्प इन शब्दों में प्रकट हुआ—'मर पूरा देस्यां, आतम रा कारज सारस्यां'— आत्मा के कल्याण के लिए प्राणोत्सर्ग भी स्वीकार्य है।

अभिनिष्क्रमण की यह घटना आचार्य भिक्षु के गर्भ-धारण करने के समय उनकी माता दीपांजी को आए स्वप्न का स्मरण कराती है। जब भीखणजी अपनी मां के गर्भ में आए तो माता दीपां ने स्वप्न में सिंह के दर्शन किए थे। स्वप्नशास्त्र का

मानना है कि गर्भ के समय सिंह-स्वप्न देखने के बाद होने वाली संतान को राज्य-शासन या राजगद्दी प्राप्त होने का योग बनता है। भीखणजी का जन्म आषाढ़ शुक्ला त्रयोदशी, संवत 1783 के रोज कंटालिया ग्राम में हुआ। बाल्यकाल से ही भीखणजी विलक्षण बुद्धि वाले, दक्ष बालक माने जाते थे। बचपन की अनेक घटनाएं उनकी विलक्षणता का प्रमाण हैं। बचपन से ही भीखण का मन घर-गृहस्थी की बनिस्पत संयम और त्याग की ओर ही झुका हुआ था। यद्यपि माता-पिता ने अल्प वय में ही भीखणजी का विवाह कर दिया, पर उनका मन धर्म-अध्यात्म की ओर लगातार अग्रसर होता रहा। भीखणजी का जीवन गृहस्थावस्था में भी धर्म से ही रंगा हुआ था और पति-पत्नी दोनों ने ही भविष्य में दीक्षा लेने का संकल्प किया था, पर अचानक पत्नी की मृत्यु से भीखणजी ने शीघ्र ही दीक्षा लेने का निर्णय किया। उन्हें जीवन का अब कोई भरोसा नहीं रहा। उन्होंने माता से दीक्षा की अनुज्ञा मांगी, पर मां का लाडला होनहार बेटा संयम-पथ को स्वीकार करे, यह दीपांजी को मान्य नहीं था। दीपांजी का मानना था कि मैंने सिंह का स्वप्न देखा है और उसके फलानुसार मेरा बेटा बड़ा होकर राजा बनेगा। लेकिन भीखणजी की साधु बनने की उत्कट इच्छा और आचार्य रघुनाथजी की प्रबल प्रेरणा तथा यह विश्वास कि इससे जिनशासन की भारी प्रभावना होगी, माता दीपांजी को अंततः दीक्षा की अनुमति देनी पड़ी।

माता दीपांजी से दीक्षा की सहर्ष अनुमति पा कर भीखण अब मुनि भीखण बन गए। कालांतर में अभिनिष्क्रमण और तेरापंथ की स्थापना से माता दीपांजी का सिंह-स्वप्न भी सचमुच साकार हो गया।

यह स्पष्ट है कि तेरापंथ का उद्भव कष्टों एवं विरोधों के झंझावातों में हुआ है। यह तो इस संघ का परम सौभाग्य रहा है कि संघ के प्राणवान आचार्यों ने संघ की श्रीवृद्धि हेतु आंतरिक व बाह्य संघर्षों का सामना करते हुए विरोध को विनोद मानकर संघ प्रभावना को ही अपना प्रमुख लक्ष्य बनाया। चतुर्विध धर्मसंघ ने भी संघवृद्धि के लिए संघ के साथ अपना तादात्म्य संबंध स्थापित किया और संघ और स्वयं को भिन्न नहीं माना। इस अभेद की अनुभूति ने संघ में साधु साध्वियों, श्रावक-श्राविकाओं की गुणवत्ता को बढ़ाया है। भिक्षुशासन में ऐसे कई श्रावक हुए हैं जिन्होंने मर्यादा अनुशासन को आत्मसात् कर संघ की अनुपम सेवा की है। यह प्रमाणित हो गया कि संघ की शरण में रहने वाला सदा फलता-फूलता है और अपनी मंजिल को प्राप्त करता है। संघ की गरिमा को प्रकट करते हुए कहा गया है—हे मानव! तू भयभीत मत बन, यह संघ सबको आश्वासन देने वाला है, शीलघर के समान है, माता-पिता के तुल्य है और सबको शरण देने वाला है। यह बात तेरापंथ धर्मसंघ के लिए भी अक्षरशः लागू होती है। जो मुमुक्षु इस संघ में दीक्षित होता है वह जीवनभर निश्चिंत और भारमुक्त बन जाता है। जहां संपूर्ण जीवन ही गुरु के चरणों में समर्पित होता है वहां सदा निश्चिंतता बनी रहती है।

आचार्य भिक्षु ने अनुभव किया कि एक नेतृत्व के अभाव में ही धर्मसंघों में शिथिलता आती है, इसलिए उन्होंने तेरापंथ धर्मसंघ की भित्ति दृढ़ मौलिक मर्यादाओं की नींव पर खड़ी की, जिनमें पहली मर्यादा रही—'एक गुरु एक विधान'। यह तेरापंथ की पहचान है। इस संघ में आचार्य भिक्षु ने अनुशासनात्मक मर्यादाओं की लक्ष्मण-रेखा भी खींची। संवत 1832 में स्वामीजी ने प्रथम लेख पत्र में कुछ मर्यादाएं अंकित कीं—उनमें प्रमुख पांच मर्यादाएं हैं—1. सर्व साधु-साध्वियां एक आचार्य की आज्ञा में रहें, 2. विहार-चातुर्मास आचार्य की आज्ञा से करें, 3. अपने-अपने शिष्य-शिष्याएं न बनाएं, 4. आचार्य योग्य व्यक्ति को दीक्षित करें। यदि दीक्षित होने के बाद अयोग्य निकले तो उसे गण से अलग कर दें, 5. आचार्य अपने गुरुभाई या शिष्य को उत्तराधिकारी चुनें, उसे सब साधु-साध्वियां सहर्ष स्वीकार करें।

आचार्य भिक्षु के द्वारा लिखित मर्यादा पत्र तेरापंथ संघ की धरोहर है। यह एक ऐसा संविधान है जिसके आधार पर यह संघ विकास की ऊंचाइयों को छू रहा है। इन मर्यादाओं ने पूरे धर्मसंघ को निश्चिंत बना दिया है। यहां मर्यादाओं के पालन में पूरी सजगता व जागरूकता बरती जाती है। जहां-जहां भी मर्यादा का भंग हुआ है, वहां आचार्यों द्वारा अनुशासनात्मक कार्रवाई भी की गई है। दो प्रसंग इसी बात की पुष्टि करते हैं। एक बार आचार्य भिक्षु ने मर्यादा से अधिक वस्त्र रखने के कारण एक साथ पांच साध्वियों का संघ से संबंध विच्छेद कर दिया। उस समय साध्वियों की संख्या बहुत कम थीं, फिर भी आचार्य भिक्षु ने संख्या को महत्त्व न देकर मर्यादा के महत्त्व को समझा और उसे ही सम्मान दिया।

दूसरा प्रसंग जयाचार्य के काल का है। आचार्य जीतमलजी ने एक साधु को संघ से इसलिए बहिष्कृत कर दिया कि वह आज्ञा लिए बिना गृहस्थ के घर से सुई ले आया। पूछने पर वह मुनि बोला 'मैं छोटी-सी सुई ही तो लाया हूं।' जयाचार्य ने कहा—'प्रश्न सूई का नहीं है, अपितु अनुशासन व मर्यादा का है।' फिर भी मुनिजी ने मर्यादा के प्रति लापरवाही दिखाई और अपनी गलती स्वीकार नहीं की, तब

उनको संघ से अलग होना पड़ा। तेरापंथ इतिहास में इस प्रकार के अनेक प्रसंग और घटनाएं मिलेंगी।

गुरुदेव श्री तुलसी के और आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के श्रीमुख से कई बार सुना कि इस धर्मसंघ में छद्मावस्था के कारण प्रमाद या गलती हो सकती है, पर गलती चल नहीं सकती। किसी ने स्वामीजी से पूछा—'यह धर्मसंघ कब तक चलेगा?' स्वामीजी बोले—'जब तक साधु-साध्वियां इसकी मर्यादा व अनुशासन का पालन करते रहेंगे तब तक यह संघ चलेगा।' इस संघ की कुछ ऐसी मौलिक विशेषताएं हैं, जिनसे इसने विश्व में अपना अद्वितीय स्थान प्राप्त किया है और अपनी गरिमा को अक्षुण्ण बनाए हुए है। स्वामीजी ने एक मर्यादा बनाई कि कोई साधु या साध्वी किसी कारणवश गण से अलग हो जाए या गण से अलग कर दिया जाए तो संघ का कोई सदस्य उसे बहुमान या प्रश्रय न दे। किसी प्रसंग में संघनिष्ठ श्रावकों ने संघपृथक साधुओं से स्पष्ट कहा कि—'हम आपके भक्त रहे हैं, निकट के श्रावक भी रहे हैं, किंतु यह भक्ति और निकटता तब तक ही थी जब तक आप संघ में थे, अन्यथा हमारा अब आपसे कोई संबंध नहीं है।'

तेरापंथ संघ का बीज आचार्य भिक्षु ने बोया और परवर्ती आचार्यों ने अपने संयम, तप और पुरुषार्थ से इसको शतशाखी बनाया। तेरापंथ जैसा नंदनवन आचार्य भिक्षु की अध्यात्म-साधना का नवनीत रूप है। भिक्षु किसी स्कूल व युनिवर्सिटी में नहीं पढ़े, फिर भी सभी डिग्रियों को पार कर अध्यात्म की ऊंची डिग्री को प्राप्त कर लिया। एक बार बेंजामिन फ्रैंकलिन से किसी ने पूछा—'आपने कौन-से स्कूल में शिक्षा प्राप्त की है?' फ्रैंकलिन ने कहा—'विपत्ति की पाठशाला।' मुझे लगता है आचार्य भिक्षु ने भी 'विपत्ति की पाठशाला' में अध्यात्म की डिग्री प्राप्त की थी। उन्होंने जितनी विपत्तियों का सामना किया, उतना ही उनका तेजस्वी और आध्यात्मिक स्वरूप निखरता गया।

आज का तेरापंथ प्रायः सभी दृष्टिकोणों से समर्थ और अपराजेय है, वर्तमान में युगप्रधान आचार्यश्री महाप्रज्ञजी की छत्रछाया में तेरापंथ फल-फूल रहा है। ❖

कोई भी धर्म किसी समय में एक बारगी पैदा नहीं होता न किसी पैगंबर द्वारा एकदम निकल पड़ता है। हर धर्म के सिद्धांत और विश्वास एक लंबे समय में मंज कर स्थान बनाते हैं। उन्हें संवारने में तत्कालीन समाज का पूरा हाथ होता है। मानव-विकास की धारा में धर्म किसी न किसी रूप में एक सामाजिक आवश्यकता रही है। और सामाजिक घटनाओं की भांति धर्म भी सदा परिवर्तनशील और भंगुर रहा है। कोई भी धर्म शाश्वत, अपरिवर्तनीय तथा अंतिम सत्य पर आधारित नहीं है। सभी धर्मों का आधार जीवन की भौतिक साज-सज्जा रहा है। सो उनके रूपों में ही यदा-कदा परिवर्तन हो जाए ऐसा नहीं है, बल्कि धर्म आमूल-चूल बदल जाते हैं। जब मनुष्य का आध्यात्मिक विकास काफी ऊंचा स्तर हासिल कर लेता है तो अलौकिक शक्ति में आस्था निरर्थक साबित होती है। सार्थक ज्ञान खयाली पुलाव और तथाकथित इलहामी ज्ञान से बढ़कर है। उससे आदमी में अपने ऊपर निर्भर होने की क्षमता बढ़ती है। फिर उसके लिए यह जरूरी नहीं रह जाता कि वह किसी अलौकिक सत्ता के सहारे जीवन-निर्वाह करे।

—एम. एन. रॉय

समया धम्म मुदाहरे मुणी

⊙ साध्वी शांतिप्रभा (लाडनूं)

महावीर ने धर्म का दूसरा नाम समता बताया। समता से परे कोई धर्म नहीं हो सकता। समता की आराधना सब धर्मों की आराधना है। उन्होंने कहा—धर्म कोई अतिरिक्त तत्त्व नहीं है। खाना-पीना, बैठना आदि प्रत्येक क्रिया धर्म हो सकती है, अर्थात् समूची जीवन पद्धति का आधार ही समता है। जैसे गहरी नींव के बिना विशालकाय भवन और मजबूत जड़ के बिना वृक्ष स्थिर नहीं रह सकता, वैसे ही समता के अभाव में धर्म नहीं टिकता।

भगवान महावीर अपनी साधना से स्वयं आलोकित बने और संसार को आलोक का पथ दिखाया, वे स्वयं बंधन-मुक्त बने व मानवीय चेतना को बंधन-मुक्ति की ओर अग्रसर किया। भगवान महावीर की साधना का आदि व अंत समता था। उन्होंने न केवल समता का उपदेश दिया अपितु समता का जीवन भी जिया। समता उनके जीवन का मूलमंत्र था। समता यानी समरसता—रागद्वेषात्मक ग्रंथि से दूर रहकर मध्यस्थ भावना का विकास। प्रेम, करुणा व अहिंसा की स्रोतस्विनी प्रवाहित करना समता है। अनुकूल एवं प्रतिकूल दोनों स्थितियों में सम रहना समता का आदर्श है।

कलिकाल सर्वज्ञ आचार्य हेमचंद्र ने भगवान महावीर के इसी रूप की स्तुति करते हुए कहा है—

पन्नगे च सुरेन्द्रे च कौशिके पाद संस्पृशि।
निर्विशेष मनस्कायः श्री वीर स्वामिने नमः।।

अर्थात् मैं उन महावीर को नमस्कार करता हूं जिनकी मनःस्थिति में इंद्र द्वारा श्रद्धानत होने पर व सर्प द्वारा डसे जाने पर भी कोई अंतर नहीं आया।

महावीर के कानों में कीलें ठोकी गईं, पैरों पर खीर पकाई गई, यही नहीं संगम नामक देव द्वारा एक रात में बीस मारणांतिक कष्ट (मरण हो जाए वैसे कष्ट) दिए गए, पर उनकी आकृति में वही समता, करुणा व मैत्री के भाव झलकते रहे।

महावीर ने धर्म का दूसरा नाम समता बताया। समता से परे कोई धर्म नहीं हो सकता। समता की आराधना सब धर्मों की आराधना है। उन्होंने कहा—धर्म कोई अतिरिक्त तत्त्व नहीं है। खाना-पीना, बैठना आदि प्रत्येक क्रिया धर्म हो सकती है, अर्थात् समूची जीवन पद्धति का आधार ही समता है। जैसे गहरी नींव के बिना विशालकाय भवन और मजबूत जड़ के बिना वृक्ष स्थिर नहीं रह सकता, वैसे ही समता के अभाव में धर्म नहीं टिकता। 'समया धम्म मुदाहरे मुणी' समता ही धर्म है। समता की साधना ही बंधन-मुक्ति की साधना है। 'कषाय मुक्ति किल मुक्ति रेव' कषाय की मुक्ति ही सही मुक्ति है। कषाय आत्मगुणों का घातक है। जिस समय आत्म-प्रदेश कषाय से उत्तप्त होते हैं, व्यक्ति का विवेक लुप्त हो जाता है, सद्गुण नष्ट हो जाते हैं और चेतना मूर्च्छित हो जाती है। समता कषायमुक्ति की ओर प्रयास है, क्योंकि कषायमुक्ति ही कर्ममुक्ति है और कर्ममुक्ति ही मोक्ष है। शास्त्रकारों की भाषा में जो सब प्राणियों को अपने समान देखता है उसके पापकर्म का बंधन नहीं होता। कषाय का तात्पर्य है—क्रोध, मान, माया और लोभ। इसी घेरे में फंसा प्राणी पापकर्मों से भारी होता रहता है। महावीर ने कहा—कषाय को जीतो। कैसे? 'उवसमेण हणे कोहं, माणं मद्दवयाजिणे, मायं चज्जव भावेण, लोभं संतोष ओ जिणे।' क्रोध को उपशम से, अभिमान को मृदुता से, माया को सरलता से व लोभ को संतोष से जीतो। यही कषाय-विजय का मार्ग प्रशस्त व सर्वश्रेष्ठ है।

प्रत्येक मनुष्य स्वास्थ्य चाहता है—चाहे शारीरिक हो या मानसिक। अच्छे स्वास्थ्य की पहली शर्त है—शारीरिक धातुओं का समीकरण, पर यह समीकरण तब संभव है जब मन तनावों से मुक्त हो। मानसशास्त्रियों का ऐसा मानना है कि शरीर की बीमारियों का नब्बे फीसदी कारण मानसिक विकार से स्नायुओं में तनाव होना है। फलस्वरूप रक्तवाहिनी नाड़ियां विकृत हो जाती हैं और रक्त का स्राव अवरुद्ध हो जाता है जिसका घातक परिणाम होता है—हृदयरोग, गठिया, मधुमेह, कैंसर आदि।

मनोविज्ञानानुसार जितने व्यक्ति—उतने ही विचार होते हैं। विचारों में परस्पर तनाव, विभेद व टकराहट होना सहज व संभव है। ऐसी स्थिति में बढ़े हुए कलह को समता के द्वारा ही रोका जा सकता है। अन्यथा ये विचार विस्फोट का

रूप धारण कर परिवार, समाज व राष्ट्र के लिए विनाश का कारण बन जाते हैं। इसलिए आवश्यक है कि व्यक्ति-व्यक्ति महावीर के समता धर्म को समझकर अपने भीतर समत्व का दृष्टिकोण जागृत करे।

कहा जाता है आंखों पर जिस रंग का चश्मा होता है, बाह्य पदार्थ वैसे ही प्रतिबिंबित हो जाते हैं। मन यदि विषमता से भरा है तो सर्वत्र विषमता ही दृष्टिगोचर होगी। इसके विपरीत मन यदि समता से अनुप्राणित है तो उसे सर्वत्र समता का ही दर्शन होगा। अस्तु, आज आवश्यकता इस बात की है कि हमारी मन की धरती पर समता की फसल उगे, कण-कण में समता की धारा प्रवाहित हो। तभी भगवान महावीर का 2600 वां जन्म कल्याणक महोत्सव मनाने की सार्थकता होगी।

आज विश्व अनेक समस्याओं से आक्रांत है। कहीं आतंकवाद का नग्न चित्र उभर रहा है तो कहीं युद्ध के बादल मंडरा रहे हैं, कहीं हड़तालों के द्वारा जन-जीवन बेचैन है तो कहीं संप्रदायवाद समाज में जहर घोल रहा है, कहीं छात्र आंदोलन से जनता का जीना दूभर हो रहा है तो कहीं महंगाई का साम्राज्य व्यक्ति को दयनीय स्थिति तक पहुंचा रहा है, कहीं पानी के अभाव का संकट है तो कहीं राजनीति की अस्तव्यस्तता जनजीवन को परेशान किए हुए है। इन समस्याओं के समाधान के लिए गहराई से चिंतन करने की जरूरत है। नए-नए कानूनों का निर्माण होता है, परंतु समस्याएं ज्यों की त्यों बनी रहती हैं। सरकारें चाहती हैं कि समस्याओं का समाधान शीघ्रातिशीघ्र हो, परंतु समाधान तब तक नहीं होगा जब तक नींव की दृढ़ता की ओर ध्यान नहीं जाएगा। हमें सबसे पहले युवा पीढ़ी पर ध्यान देना होगा क्योंकि युवा ही समाज, राष्ट्र व परिवार की नींव हैं। इसलिए भावी पीढ़ी का निर्माण देश व राष्ट्र का निर्माण है। गांधीजी के शब्दों में—'जिस देश की युवापीढ़ी जितनी सक्षम व सुसंगठित होगी वह देश उतना ही सक्षम व शक्ति संपन्न होगा।' युवाशक्ति की सुबुद्धि देश को नवनिर्माण की ओर ले जा सकती है।

अतः महावीर ने जीवन के मूलमंत्र के रूप में समता सिद्धांत का प्रतिपादन किया है—आज युवा पीढ़ी के लिए जरूरी है कि वह इसे ठीक से समझे और आत्मसात् करने की ओर अग्रसर हो, किंतु स्थितियां विपरीत हैं। आज की युवा पीढ़ी का पहला फैशन बनता जा रहा है व्यसन। व्यसन को अपनाने वाली युवा पीढ़ी अपने जीवन के सतरंगे सौंदर्य को होम रही है। इसी व्यसन के बर्बर राक्षस ने युवा पीढ़ी की शारीरिक, मानसिक व बौद्धिक क्षमता को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया है। नशा संपूर्ण मानव जीवन के लिए अभिशाप है। यही नशा युवा पीढ़ी को भ्रष्ट कर पापों, अपराधों व दुराचरणों की ओर ले जाने वाला कुमार्ग है। नशा न केवल शारीरिक स्वास्थ्य का दुश्मन है अपितु स्मृति दोष, विवेक-विकलता व मनोकायिक रोगों का उद्गम केंद्र भी है। इसी दोष के कारण युवावस्था में भी वृद्धावस्था के लक्षण नजर आने लगते हैं।

युवा पीढ़ी के खान-पान, वेश-भूषा, रहन-सहन व व्यवहारों को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि आज पाश्चात्य संस्कृति का प्रभाव उसके दिल-दिमाग पर जबरदस्त छाया हुआ है। विकास की अंधी दौड़ में वह अपने ही पैरों को कुचल रही है। सुसंस्कारों का सलिल सूखता हुआ नजर आ रहा है। सुबुद्धि, संयम, ज्ञान, सत्य, पवित्रता, करुणा, समता आदि सभी गुणों को व्यसन वैसे ही खत्म कर देता है जैसे अग्नि की चिनगारी घास को। व्यक्ति के इतने गुण जिससे विनष्ट हो जाएं, उस व्यसन को कोई भी समझदार व्यक्ति सुखप्रद व लाभदायक नहीं बता सकता। नशे में फंसा युवक अपनी सात पीढ़ियों से बनी इज्जत को नष्ट कर देता है।

महावीर के समता सिद्धांत को जीवन में उतारने के लिए अणुव्रत के छोटे-छोटे सूत्र काफी सहायक सिद्ध हो सकते हैं।

अणुव्रत के छोटे-छोटे सत्संकल्पों से युवा पीढ़ी को जीवन के लिए सही दिशा-दर्शन प्राप्त हो सकता है। इसी प्रकार प्रेक्षाध्यान व जीवन विज्ञान व्यक्ति के भीतरी रसायनों में परिवर्तन कर सत्संस्कारों का बीजारोपण करने हेतु उर्वर भूमि का निर्माण करता है। सुख व शांति की सौरभ से भरी हुई नई फसल लहलहा सके और परिवार, समाज व देश तथा राष्ट्र का कायाकल्प हो सके, प्रगति की नई उड़ानें भरी जा सकें, यह सभी के लिए अभिलषणीय है। इसी से महावीर का समता सिद्धांत हमारे जीवन में चरितार्थ हो सकता है। ❖

भारतीय संस्कृति ने एक बात अपने में रमा ली है। वह यह है कि मौत से डरना फिजूल है। हर चीज को मरना है। लेकिन मौत का कभी अंत नहीं है। एक आदमी मरता है, पर अपना बेटा संसार में छोड़ जाता है और क्योंकि कड़ी टूटती नहीं, इसलिए मौत केवल रूप का बदल जाना है।

—डॉ. रांगेय राघव

अधिकांश माता-पिता बालसुलभ मन को समझ ही नहीं पाते हैं। इस वजह से भी माता-पिता और बच्चों के पारस्परिक संबंध सौहार्दपूर्ण नहीं होते। परिणामस्वरूप भावी पीढ़ी अनायास ही कुंठित, जिद्दी, चिड़चिड़ी और उच्छृंखल होती चली जाती है और संपूर्ण समाज-व्यवस्था को ही अस्वस्थ कर डालती है। बालकों और किशोरों में बढ़ते हुए अपराध इसके प्रमाण हैं।

बाल मन की गहराइयां

⊙ सरोज छाजेड़

लगभग तेरह साल पहले मेरी तीन वर्षीय बेटी ने एक दिन कहा, 'मम्मी आज मुझे शैंपू से सिर धोना है।' मैंने समझाया कि बच्चों के लिए शैंपू हानिकारक होता है, उसे इस्तेमाल नहीं करना चाहिए। पर उसकी जिद्द के आगे विवश होकर मैंने शैंपू से उसका सिर धो दिया। लेकिन यह क्या? उसकी इच्छानुकूल कार्य होने के बावजूद वह रोने लगी। कारण जानना चाहा तो पता चला कि उसके बाल कमर तक लंबे नहीं हुए इसलिए रो रही है। मैं कुछ समझी नहीं। तब उसने बताया, 'मैंने टी.वी. पर देखा था कि शैंपू से बाल धोने से बाल कमर तक लंबे हो जाते हैं, मुझे भी लंबे बाल चाहिए।' जैसा कि अक्सर हम सबके साथ होता है, उस समय तो मैंने उसे डांट दिया, क्योंकि मैं स्वयं बाल मनोविज्ञान को नहीं जानती थी, पर अभी कुछ दिन पहले मेरा पांच वर्षीय भतीजा रामायण की पुस्तक पलटते हुए रावण का दस सिर वाला चित्र देख कर जब प्रश्न कर बैठा, 'बुआ, रावण जब हंसेगा तो एक सिर से या दस सिर से?' अपनी बेटी के बचपन की उपरोक्त घटना मेरे स्मृति पटल पर तब उभर आई। मैं दोनों की बालसुलभ जिज्ञासा का समाधान तो नहीं कर पाई, लेकिन मैं मुग्ध हो गई बच्चों के इस वैचारिक सोच पर, और अनेक प्रश्न मानस-पटल पर उभरने लगे कि क्या हम बच्चों के संवेदनशील मन, उनकी कल्पनाशीलता, उनकी बालसुलभ उत्सुकता को समझ कर उनके पालन-पोषण में अपनी भूमिका सही अर्थों में निभा रहे हैं?

प्रत्येक माता-पिता के लिए यह विचारणीय प्रश्न है। हर माता-पिता को बच्चों के ऐसे प्रश्नों का प्रायः सामना करना पड़ता है। माता-पिता व्यस्ततावश, अज्ञानवश बच्चों की ऐसी जिज्ञासाओं को व्यर्थ समझ कर टाल देते हैं, झिड़क देते हैं। एक बार, दो बार, कई बार तिरस्कृत होकर बच्चा अपने को उपेक्षित महसूस करता है। इसी तरह उसमें हीन-कुंठा जन्म लेती है।

यह निर्विवाद सत्य है कि हर बच्चे की अपनी वैचारिक पकड़ होती है। नन्हे 'राहुल' को ही लीजिए। मां के साथ वह मंदिर गया। वहां देवी-देवताओं के अनेक चित्र लगे देखे। सरस्वती के चित्र को देखकर अपनी मां से पूछ बैठा, 'मम्मी! क्या ये भगवान बहुत हल्के हैं?' मां उसका आशय नहीं समझ सकी। बोली, 'नहीं, ये तो हमारी तरह ही भारी हैं।' राहुल ने विस्मित होकर अगला प्रश्न किया, 'तब इनके बोझ से दबकर यह हंस मर कैसे नहीं रहा?' और जैसा अक्सर होता है मां ने टालने के खयाल से कहा, 'अरे हां! मैं तो भूल ही गई थी, ये तो हलके भगवान हैं। तभी हंस बोझ महसूस नहीं कर रहा और न दर्द ही हो रहा है।' राहुल को भी बात समझ में आ गई। उसने अपनी बाल बुद्धि से अनेक उदाहरण पेश करके मां की बात का समर्थन किया कि 'हां मम्मी! आप बिल्कुल सही हैं। भगवान तो हलके ही होते हैं तभी लक्ष्मीजी कमल पर खड़ीं हैं और गणेशजी चूहे पर बैठे हैं।'

थोड़ी देर बाद उसने फिर एक प्रश्न किया कि क्या सभी भगवान फूलों के समान हल्के होते हैं? मां ने झुंझलाते हुए कहा, 'तुम्हें विश्वास क्यों नहीं हो रहा?' तब उसने जो उत्तर दिया, उससे मां निरुत्तर हो गई। उसने कहा, 'मैं एक भारी भगवान को भी जानता हूं, वे कभी हलके हो ही नहीं सकते, क्योंकि उनके हाथ में गदा है और वे पहाड़ भी उठा लेते हैं। वे हैं हनुमानजी।'

हम सबको कई बार बच्चों के सामने इसी तरह निरुत्तर हो जाना पड़ता है। हमें इनकी कल्पनाशीलता एवं वैचारिक पकड़ पर विशेष ध्यान देने की जरूरत है। बच्चों के कोमल हृदय पर सृजन की अनेक कलियां खिलने को बेताब हैं, इनके अंतःआकाश में अनेक रेखाएं विस्तार पाने को उमड़ रही हैं, जिनमें समाज, देश व विश्व के विकास की नई संभावनाएं निहित हो सकती हैं। पर वस्तुवाद, उपभोक्तावाद व बहुराष्ट्रवाद की नई गुलामी के इस दौर में कल्पना के ये स्पंदनशील पुट भौतिक विकास की दौड़ के साथ सुरक्षित भी रह पाएंगे क्या?

हम अगर सावधान नहीं हुए तो सहजता और संवेदना के ये बिरवे टी.वी. संस्कृति, कंप्यूटर और इंटरनेट की दुनिया

में भटक जाएंगे। पाश्चात्यता की आंधी इन्हें शहरों की अपसंस्कृति में उड़ा ले जाएगी, जहां नैतिकता एवं जीवन मूल्यों की जगह क्लब, पार्टी, पैसा, शोहरत आदि के तराजू पर इनका जीवन तौला जाएगा। गंभीरतापूर्वक चिंतन की जरूरत है कि ऐसा भौतिक सुख और 'कैरियर' किस काम का जिसे पाने की होड़ में हमारे बच्चे हमसे इतनी दूर चले जाएं कि हमारी पुकार पर भी वापस न लौट सकें और उनका भविष्य कभी न समाप्त होने वाली काली-अंधेरी रात में बदल जाए। याद रहे, इस स्तर पर बच्चों को स्वेच्छाचारी बनाकर रख छोड़ना खतरे से खाली नहीं है, न बच्चे के हित में ही है।

व्यक्ति के जीवन-निर्माण का आधार संस्कार ही हैं। संस्कारों से ही व्यक्ति की श्रेष्ठता या निकृष्टता का पता चलता है। सद्संस्कारों से ही व्यक्ति में मानवीय मूल्य अनुप्राणित होते हैं, व्यक्ति अपने लिए, परिवार, समाज व राष्ट्र के लिए उपयोगी बनता है। परिणामतः मानव और मानवता दोनों प्रतिष्ठित होते हैं। पर प्रश्न है कि व्यक्ति को सद्संस्कारित कैसे किया जाए? संस्कार कैसे अर्जित होते हैं? इनका स्रोत क्या है?

मूलतः संस्कार दो प्रकार के होते हैं—आनुवंशिक और अर्जित। आनुवंशिक संस्कार बच्चा जन्म के समय साथ लेकर आता है। उनका स्रोत 'जीन' है। अर्जित संस्कारों का स्रोत लालन-पालन, वातावरण, शिक्षण-प्रशिक्षण एवं पुरुषार्थ है। आनुवंशिक संस्कारों के परिमार्जन में भी अर्जित संस्कारों का महत्त्वपूर्ण योगदान होता है। इसलिए संस्कार निर्माण की प्रक्रिया जीवन निर्माण की अन्य सभी प्रक्रियाओं से अधिक महत्त्वपूर्ण है। बचपन ही व्यक्ति के संस्कार निर्माण का सबसे उपयुक्त समय होता है। बालवय अपरिपक्व होती है, इसीलिए इस अवस्था में ग्रहणशीलता सरल, शीघ्र और स्वाभाविक रूप में रहती है। बाल कोमल मन तत्परता से सब कुछ ग्रहण करता है और जो छवि इस उम्र में अंकित हो जाती है वह चिरस्थाई रहती है। ऐसी स्थिति में बाह्य निमित्त यथा—प्रकृति, वातावरण, मित्र, गुरु, मनोरंजन के साधन, विद्यालय आदि की संस्कार-निर्माण में प्रबल सहभागिता होती है। परिवार की भूमिका तो हर स्तर पर महत्त्वपूर्ण होती है।

हमारे यहां एक समय में संयुक्त परिवार परंपरा रही है। तब दादी-नानी की बोध कहानियां और लोरियां सुनकर, परिवार में अनेक सदस्यों के साथ घुल-मिल कर रहने वाला बच्चा अनायास ही संस्कारित हो जाता था। संस्कार अर्जित करने की यह एक सहज मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया थी, पर आज एकल परिवार में माता-पिता ही बच्चों के आदर्श रह गए हैं। उनका व्यक्तित्व, उनके पारस्परिक संबंध ही बच्चे को संस्कारित करने में अहम भूमिका निभाते हैं। इस स्थिति में माता-पिता पहले से कहीं अधिक जागरूक भी नजर आते हैं और वे बच्चे को हर संभव सुख-सुविधा देने का प्रयास भी करते हैं, फिर भी अपेक्षित परिणाम नहीं मिलते। क्योंकि वे भूल जाते हैं कि संस्कार मात्र सुख-सुविधाओं से, धन-वैभव या भौतिकता की चकाचौंध से अर्जित नहीं किए जा सकते। इसके लिए चाहिए अंतःसौंदर्य के वे तत्त्व जो मानवीय मूल्यों से ओत-प्रोत हों। किसी को संस्कारित करने का अर्थ सिर्फ आदर्शों का पाठ पढ़ाना नहीं है, अपितु जीवन-मूल्यों एवं नैतिक आचरणों को हृदय से आत्मसात करवाना है, जिससे बिखराव की संभावना सृजन की चेतना में बदल सके। पर विडंबना यह है कि अनेकशः माता-पिताओं के स्वयं के जीवन में भी उन तत्त्वों का अभाव प्रतीत होता है। इसके अनेक कारण हैं। वर्तमान की विसंगतियां और उनसे पैदा हुई परिस्थितियों में माता-पिता सहित सभी की जीवन शैली बदल रही है। आधुनिकता और विकासशीलता की होड़ में माता-पिता हर समय अपनी आर्थिक स्थिति को संवारने में ही व्यस्त रहते हैं। दूसरी ओर संपन्न वर्ग से जुड़े माता-पिता तथाकथित संभ्रांतता के चक्कर में क्लब, किट्टी और डिस्कोथेक में ही मशगूल रहते हैं और उनके पास बच्चों के लिए समय नहीं है। उनके बच्चे तो—

अपनी आया से रोज मार खा कर सोते हैं,
सबकी किस्मत में मां की लोरियां नहीं होतीं।

अधिकांश माता-पिता बालसुलभ मन को समझ ही नहीं पाते हैं। इस वजह से भी माता-पिता और बच्चों के पारस्परिक संबंध सौहार्दपूर्ण नहीं होते। परिणामस्वरूप भावी पीढ़ी अनायास ही कुंठित, जिद्दी, चिड़चिड़ी और उच्छृंखल होती चली जाती है और संपूर्ण समाज-व्यवस्था को ही अस्वस्थ कर डालती है। बालकों और किशोरों में बढ़ते हुए अपराध इसके प्रमाण हैं। जिद्दीपन, उच्छृंखलता एवं चिड़चिड़ेपन का ही दूसरा नाम संस्कारहीनता है। जरा सोचें कि कौन बनाता है उन्हें संस्कारहीन? कौन उत्तरदाई है इस विकट समस्या के लिए?

तथाकथित आधुनिक संस्कृति एवं सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियां इस समस्या के लिए उत्तरदाई हैं। आज की सामाजिक-पारिवारिक व्यवस्था, बच्चों के शारीरिक-मानसिक विकास के तौर-तरीकों में परिवर्तन, पीढ़ियों के बीच बढ़ते अंतराल, व्यक्तिवादी मनोवृत्ति, नैतिक मूल्यों के क्रमिक ह्रास आदि कारण भी इस समस्या से गहरे रूप से जुड़े हुए हैं। ऐसी हालत में बच्चों तक नैतिक मूल्यों की संप्रेषणीयता कैसे संभव हो, यह चिंतनीय पहलू है।

यूं तो इस समस्या पर अंकुश लगाने का काम बहुआयामी है। समाज की हर इकाई एवं संस्था की इसमें अपनी विशिष्ट भूमिका है, पर समाधान की बात तब तक नहीं सोची जा सकती जब तक शुरुआत घर से न हो। घर से शुरू होकर यह कार्य सामुदायिक तथा राष्ट्रीय स्तर पर पहुंचना चाहिए। एकल परिवार के इस युग में यह महत्त्वपूर्ण भूमिका माता-पिता को ही निभानी होगी। अतः सर्वप्रथम माता-पिता को पूर्वाग्रह और आत्मकेंद्रितता की भावना से अपने आपको ऊपर उठाना होगा। साथ ही बच्चों के स्तर पर उतरकर उनके संसार को समझना होगा। मानना होगा कि बाल-संसार सर्वथा भिन्न संसार है। मां को सदाचार की प्रथम शिक्षिका और पिता को सही दिशा-निर्देशक बनना होगा। प्रेम, करुणा, श्रम, सेवा, सहिष्णुता, ईमानदारी, विनम्रता आदि मानवोचित गुणों के इन संस्कारों के साथ-साथ इस भोगवादी संस्कृति में एक महत्त्वपूर्ण संस्कार बच्चों को जो देना होगा, वह होगा 'त्याग का संस्कार'। सभी जानते हैं—त्याग का संस्कार जब जगता है तो हजारों गुण और अच्छाइयां स्वतः आ उपस्थित होते हैं और जब भोग का संस्कार जगता है तो हजार बुराइयां आ खड़ी होती हैं।

जिन लोगों ने आचार्य भिक्षु को आराध्य के रूप में स्वीकारा है वे जानते हैं कि भिक्षु ने धर्म को परिभाषित करते हुए कहा—'त्याग धर्म है, भोग अधर्म।' कहीं कोई उलझन नहीं, कहीं कोई विवाद नहीं। बस, आवश्यकता यही है कि माता-पिता स्वयं के जीवन में 'निज पर शासन फिर अनुशासन' को आत्मसात करते हुए अपने आचरण से बच्चों को संबोध दें, माता-पिता स्वयं संस्कारित बनकर बच्चों के जीवन में सदसंस्कारों के स्वस्तिक उकेरें।

बच्चों के बालसुलभ कौतूहलभरे प्रश्नों के संदर्भ में माता-पिता की यही महत्त्वपूर्ण भूमिका होगी। इसी में संपूर्ण मानवता का हित निहित है। ❖

कृपया ध्यान दें

जैन भारती के लिए रचनाएं भेजते समय कृपया निम्नोक्त बिंदुओं का अवश्य ध्यान रखें—

● आपकी रचना कम से कम 1500-2000 शब्दों से लेकर 2500-3000 शब्दों के मध्य हो। कुछेक आलेख जैन भारती के एक पृष्ठ से भी कम आकार के होते हैं, जो हमारे लिए अपर्याप्त हैं। जैन भारती के लिए ऐसे आलेख काम में लेना संभव नहीं। अतः इतने छोटे आलेख न भेजें।

●● रचनाएं 'फुल स्केप' कागज पर एक तरफ हाथ से लिखी या टाइप की हुई हों। पूरा हाशिया अवश्य छोड़ें। दो पंक्तियों के बीच भी पर्याप्त स्थान होना जरूरी है।

●●● फोटोकॉपी न भेजें अथवा सुस्पष्ट हो तो ही भेजें।

कृपया उपरोक्त हिदायतों की ओर पूरा ध्यान देकर हमें सहयोग करें।

बालकथा

संत की नींद टूट गई। वे आश्चर्य में डूबकर सोचने लगे, 'रामू जाति का चमार! उसे घर बैठे ही तीर्थों का फल मिल जाता है। बिना जप-तप के ही भगवान ने उसे अपना बना लिया है। आखिर, वह करता क्या है?'

रामू की पवित्रता

⊙ राजकुमारी

रात का समय था। एक बहुत बड़े संत एक तीर्थ में गए थे। वे एक मंदिर के पास सोए हुए थे। रात में वे एक स्वप्न देखने लगे :

दो देवता आपस में बातचीत कर रहे थे :

'इस साल तीर्थ में कितने आदमी आए होंगे?' एक देवता ने पूछा।

'लगभग पांच-छह लाख आदमी आए होंगे।' दूसरे देवता ने उत्तर दिया।

पहले देवता ने फिर प्रश्न किया, 'क्या भगवान ने उन सभी आदमियों की सेवा स्वीकार की?'

दूसरे देवता ने उत्तर दिया, 'नहीं। उन पांच-छह लाख आदमियों में बहुत थोड़े-से ऐसे लोग होंगे जिनकी सेवा को भगवान ने स्वीकार किया होगा।'

पहले देवता ने पूछा, 'ऐसा क्यों?'

दूसरे देवता ने उत्तर दिया, 'बहुत कम लोग ऐसे हैं, जो सच्ची श्रद्धा से तीर्थ में आते हैं। बहुत-से लोग तो तीर्थ में भी बुरे काम करते हैं।'

पहले देवता ने एक और प्रश्न किया, 'क्या ऐसा भी कोई आदमी है, जो कभी तीर्थ में न आया हो, पर उसे घर बैठे तीर्थों का फल मिल गया हो और जिसे भगवान ने अपना बना लिया हो?'

दूसरे देवता ने उत्तर दिया, 'हां, ऐसे बहुत-से लोग होंगे। मैं स्वयं एक ऐसे आदमी को जानता हूं। वह जाति का चमार है। उसका नाम रामू है। वह केरल नामक प्रांत के एक गांव में रहता है।'

संत की नींद टूट गई। वे आश्चर्य में डूबकर सोचने लगे, 'रामू जाति का चमार! उसे घर बैठे ही तीर्थों का फल मिल जाता है। बिना जप-तप के ही भगवान ने उसे अपना बना लिया है। आखिर, वह करता क्या है?'

संत के मन में रामू के दर्शन की लालसा पैदा हो उठी।

संत केरल के लिए चल पड़े। वे केरल में रामू के गांव का पता लगा कर उसके घर जा पहुंचे। रामू अपने घर के दरवाजे पर बैठकर जूते बना रहा था।

संत ने रामू के पास जाकर उससे पूछा, 'क्यों भाई, क्या तुम्हीं रामू चमार हो?'

रामू ने उत्तर दिया, 'हां महाराज, मेरा ही नाम रामू चमार है।'

रामू ने संत को बैठने के लिए लकड़ी का पीढ़ा दिया।

संत ने पीढ़े पर बैठकर रामू से प्रश्न किया, 'क्यों भाई, तुम कौन-सा काम करते हो?'

रामू ने उत्तर दिया, 'मेरा काम आप देख ही रहे हैं महाराज! मैं जूते बनाता हूं।'

संत ने दूसरा प्रश्न किया, 'क्या तुमने कभी तीर्थों की यात्राएं भी की हैं?'

रामू ने उत्तर दिया, 'महाराज, मैं गरीब आदमी हूं। तीर्थ जाने के लिए पैसे चाहिए। मैं जो कुछ कमाता हूं, वह खाने-पीने के लिए ही पूरा नहीं पड़ता। फिर, भला मैं तीर्थ कैसे जा सकता हूं?'

संत ने एक और प्रश्न किया, 'क्या तुम कोई जप-तप करते हो?'

रामू ने उत्तर दिया, 'नहीं महाराज, मैं कोई जप-तप नहीं करता। सच बात तो यह है कि मुझे जप-तप का ज्ञान नहीं है।'

संत आश्चर्य में डूब गए। उन्होंने रामू को अपना स्वप्न सुनाकर कहा, 'आश्चर्य है, तुम जाति के चमार हो! न तो तुमने तीर्थों की यात्रा की और न तुमने जप-तप ही किए। फिर तुम पर भगवान की इतनी कृपा कैसे हुई?'

रामू ने उत्तर दिया, 'महाराज, भगवान बड़े दयालु हैं। वे जाति-कर्म और जप-तप नहीं देखते। वे तो सचाई, प्रेम, ईमानदारी और सरलता को ही महत्त्व देते हैं। उन्होंने मुझ पर दया करके ही मुझे अपना बनाया है।'

संत ने बड़ी उत्सुकता से पूछा, 'भगवान ने तुम्हें किस तरह अपना बनाया, क्या कुछ बताओगे?'

रामू ने उत्तर दिया, 'क्यों नहीं, सुनिए :

कई वर्ष पहले की बात है, मेरे मन में तीर्थ करने की इच्छा पैदा हुई। मैं खाने-पहनने से बचाकर पैसे जमा करने लगा।

कुछ महीनों में मेरे पास कुछ रुपए जमा हो गए। उन दिनों मेरी स्त्री गर्भवती थी। एक दिन उसने मुझसे कहा, *'मेरा मन मेथी का साग* खाने को कर रहा है। क्या कहीं से ला सकते हो?'

संयोग की बात, उस दिन पड़ोसी के घर में मेथी का साग बन रहा था। उसकी सुगंध मेरे घर में भी आ रही थी।

मैंने सोचा, क्यों न पड़ोसी के घर जाकर उससे थोड़ा-सा मेथी का साग मांग लाऊं?

मैंने पड़ोसी के घर जाकर, उससे थोड़ा-सा मेथी का साग देने के लिए प्रार्थना की।

पड़ोसी ने मेथी का साग दे तो दिया, पर उसने कहा, 'देखो भाई, मैं इसे बड़े अपवित्र स्थान से बीनकर लाया हूं। हम लोग कई दिनों से बहुत भूखे थे। भूख के कारण प्राण निकले जा रहे थे। बाहर निकला तो देखा, एक मुर्दे के ऊपर मेथी के साग बिखरे हुए पड़े हैं। मैं उसी साग को बीन लाया। मेरी पत्नी ने उसी को पकाया है। तुम चाहो तो उसे ले जा सकते हो।'

पड़ोसी की इस दुख-कहानी को सुनकर मैं कांप उठा। मैं सोचने लगा, मैं तो तीर्थ में जाऊं और पड़ोसी मुर्दे पर बिखेरे गए साग खाएं। धिक्कार है मेरी इस तीर्थयात्रा को!

मैंने तीर्थयात्रा के लिए जमा किए हुए सारे रुपए पड़ोसी को दे दिए।

उसी दिन रात में भगवान विष्णु ने मुझे दर्शन दिए। उन्होंने मुझसे कहा, 'रामू! मैं तुम्हारे इस त्याग से तुम पर बहुत प्रसन्न हूं। तुम आज से मेरे अपने हो गए। मैं आज से सदा तुम्हारे घर में रहूंगा।'

बस महाराज, उसी दिन से मेरे हृदय में स्वर्ग बन गया है। मुझे ऐसा लगता है जैसे संसार का सारा सुख *मेरे घर में आ गया हो।'*

रामू की बात सुनकर संत आनंद से गद्‌गद्‌ हो गए। उनकी आंखों से हर्ष, प्रेम और आनंद के आंसू गिरने लगे।

संत अपनी आंखों से आंसू टपकाते हुए रामू के चरणों पर गिर पड़े। उन्होंने गद्‌गद्‌ वाणी में कहा, 'रामू भैया, तुम ऋषि से भी महान और मुनि से भी अधिक पवित्र हो।'

क्या यह सच नहीं है कि रामू की कहानी ऊंच-नीच की उस दीवार को ढहा देती है जिसे लोगों ने सैकड़ों-हजारों वर्षों से तैयार कर रखी है? ❖

जब मनुष्य के हृदय में ज्ञान का प्रकाश भर जाता है तो संसार के राग-द्वेष को ठीक से समझने लगता है। ज्ञान के उत्पन्न होने से स्वतः ही मन को शांति मिलती है और जब शांति आ जाती है तो तृष्णा का शमन अपने-आप हो जाता है। यदि तृष्णा से पीछा छुड़ाना है तो विषयों से मुंह मोड़ लेना चाहिए।

—भर्तृहरि

जैन भारती पाठक पहेली

नियम

1. यह पहेली जैन भारती के अप्रैल, 2001 अंक में प्रकाशित सामग्री पर आधारित है, अतः इस पहेली के उत्तर जैन भारती के अप्रैल अंक की सामग्री पर आधारित होने चाहिए। 2. प्रकाशित पहेली के हल/उत्तर दिनांक 19 अगस्त, 2001 तक जैन भारती कार्यालय, गंगाशहर पहुंच जाने चाहिए। प्रत्येक प्रविष्टि पाठक पहेली प्रारूप में ही भरी होनी चाहिए। 3. अधूरे भरे हुए या देर से पहुंचे हलों पर विचार नहीं किया जाएगा। कटी-फटी प्रविष्टियां स्वीकार नहीं की जाएंगी। 4. इस पहेली के सही हल और विजेताओं के नाम सितम्बर, 2001 के अंक में प्रकाशित किए जाएंगे। 5. सर्वशुद्ध हलों में से पुरस्कार का चयन लाटरी-पद्धति द्वारा होगा। प्रतियोगिता में पुरस्कार विजेताओं के बारे में संपादकीय निर्णय अंतिम होगा। इस बाबत कोई पत्र-व्यवहार नहीं किया जाएगा। चयनित प्रथम प्रतियोगी को 151 रुपये का साहित्य अथवा नकद राशि पुरस्कार स्वरूप दी जाएगी, जबकि सर्वशुद्ध हल वाले प्रथम दस प्रतियोगियों को जैन भारती एक साल तक सम्मानार्थ भेजी जाएगी। 6. एक लिफाफे में एक से अधिक प्रविष्टियां भी भेजी जा सकती हैं, लेकिन हर एक प्रविष्टि के साथ कूपन संलग्न करना अनिवार्य है। जिरोक्स (छायाप्रति) या प्रतिलिपि स्वीकार नहीं की जाएगी। 7. लिफाफे पर एक कोने में 'जैन भारती पाठक पहेली' अवश्य लिखा होना चाहिए।

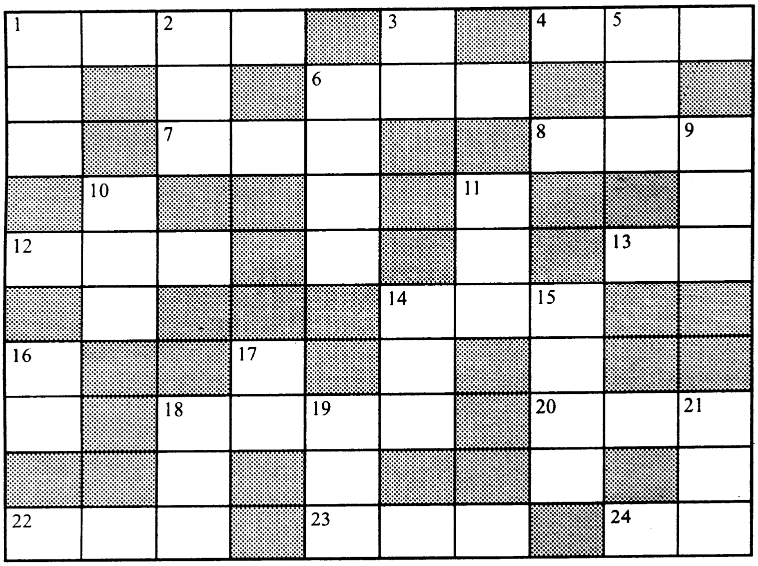

प्रविष्टि कूपन

जैन भारती पाठक पहेली-0017

नाम प्रतियोगी..उम्र............

पूरा पता..

....

....

बाएं से दाएं

1. मुकाबला करने की कुंजी और......साधन विद्यमान है [4]
4. एक बहुत गहरे, नीरव, निश्चल......में नीचे ही नीचे उतरते जाने की आवश्यकता है [3]
6. किसी न किसी रूप में अहिंसा का......संदेश दिया है [3]
7. राष्ट्र के अधिनेता भी यही......करते हैं [3]
8. दूध-सा सफेद घोड़ा उसके सामने......खड़ा हो गया। [3]
12. घट अनित्य है,......सर्वथा नित्य है [3]
13. भोग-भूमि का अधिकार हमने जान-बूझकर नहीं...... है [2]
14. मानो लाखों वर्षों से सागर बन......रहा हो [3]
18. किसी एक धर्म का......निश्चिंततापूर्वक करने की अनुमति देती है [4]
20. साधक को तो......निश्चल बन, सब निथार लेने का ही प्रयत्न करना चाहिए [3]
22. वह परम......जल है [3]
23. विचारों के......पर बिठा देने से वह रूपवान बन सकता है [3]
24. आपका दर्शन [redacted]य हो गया [2]

ऊपर से नीचे

1. वैसे ही......लोग परमात्मा के उच्चतम निवास स्थान को [3]
2. हर किसी को अपनी-अपनी......निभानी पड़ती है [3]
3. ......में बौर आया [2]
5. राजा, पुरोहित और......मिल कर धर्म की ओट अपने स्वार्थ-पोषण [3]
6. वे अधिक सहिष्णु हैं, कम......हैं [4]
9. यहां की रस-सलिला और आलोक......है [3]
10. घट......और कार्य की दृष्टि से पट से भिन्न है [3]
11. सब......जाना है [3]
14. कुछ अन्य......भी उसे व्यक्त करते हैं [3]
15. महात्मा गांधी ने......के क्षेत्र में भी अहिंसा के सफल प्रयोग किए [4]
16. अपना अस्तित्व अमिट रखने का......और आकाश देवता [2]
17. चलना शुरू किया और कहना......किया [2]
18. ये सवालिया......नीतिकारों के मध्य [3]
19. शुभू ......[3]
21. जिसे एक पूरा भोजन या......भी नसीब नहीं [3]

जैन भारती पाठक पहेली - 0015

सर्वशुद्ध हल व विजेताओं के नाम

1 ह	2 ल	■	3 क	मी	4 श	न	■	■	5 ब
6 म	ज्जा	■	र	■	म	■	7 ता	दा	द
■	■	■	8 पा	ल	न	■	■	■	ला
9 गु	रु	10 मं	त्र	■	■	11 इ	र्द	■	व
ण	■	त	■	12 ऊ	■	त्ता	■	13 दी	■
■	■	14 व्य	व	हा	र	■	15 म	न	16 न
■	17 स	■	■	पो	■	■	लि	■	व
18 सं	च	19 य	■	20 ह	21 नी	मे	न	■	■
श	■	22 म	23 ल	■	र	■	24 ता	ली	25 म
26 य	ज्ञ	■	क्ष्य	■	27 व	ध	■	■	न

प्रथम चयनित विजेता—हर्षिता सोलंकी, सायरा

अन्य दस चयनित विजेता

1. मीना एंच. मेहता, सूरत
2. संतोष सोलंकी, बैंगलौर
3. नथमल कोठारी, बालोद (छत्तीसगढ़)
4. मंजु दुग्गड़, विजयनगरम
5. संतोष नाहटा, बिहारीगंज, बिहार
6. बबीता जैन मेहता, बैंगलौर
7. विमला देवी गोलछा, मदुरेई
8. आशा देवी नाहटा, कोलकाता
9. दुलहराज राय सोनी, आउवा
10. नारायणचन्द गुलगुलिया, गंगाशहर

जैन भारती पाठक पहेली के सभी पुरस्कार (प्रारंभ से ही) बंशीलाल श्रीमाल चेरीटेबल ट्रस्ट तिरपाल उद्योग, फैंसी बाजार, गुवाहाटी (असम) के सौजन्य से।

हार्दिक शुभकामनाओं सहित :

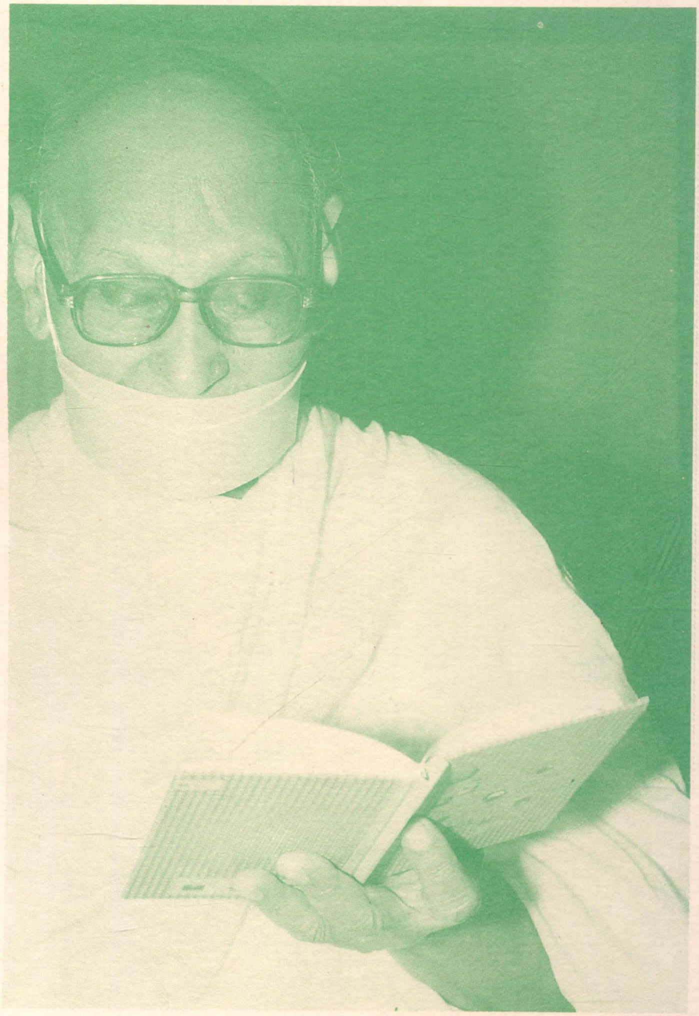

हेमराज शामसुखा

विनीत टेक्सफैब लिमिटेड

101, मामुलपेट, बंगलौर 560053

फोन : 2872355, 2871754

जैन भारती, जुलाई, 2001 ■ भारत सरकार पं. सं. : 2643/57 ■ डाक पं. सं. : आर जे/डब्ल्यू आर /11/48/2000

श्रद्धा की प्रतिमूर्ति

श्रीमती मनोहरी देवी बैद

जन्म : 21 जून, 1903 स्वर्गवास : 21 मार्च, 1975

Baid Engineers (P) Ltd.

H-8, Civil Township, Rourkela 769004

Phone : 503851

भँवरलाल सिंघी, महामंत्री, जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता-1 के लिए
जैन भारती कार्यालय, गंगाशहर, बीकानेर (राज.) से प्रकाशित एवं सांखला प्रिण्टर्स, बीकानेर द्वारा मुद्रित।